स्वर्गवासी साधुचरित श्रीमान् डालचन्दजी सिंघी

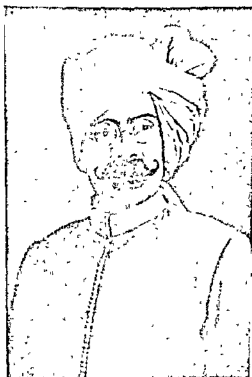


बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघीके पुण्यश्लोक पिता

जन्म-वि स १९२१, मार्ग वदि ६ 卐 स्वर्गवास-वि स. १९८४, पोष सुदि ६

दानशील-साहित्यरसिक-संस्कृतिप्रिय

स्व० बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी



अजीमगंज-कलकत्ता

जन्म ता. २८-६-१८८५]　　　　[मृत्यु ता. ७-७-१९४४

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

**********************[ग्रन्थांक ३२]**********************

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्तनस्वरूप - काव्यद्वय

महाकवि - सोमेश्वरदेव - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि - अरिसिंह ठक्कुर - विरचित

सुकृतसंकीर्तन



SINGHI JAIN SERIES

**********************[NUMBER 32]**********************

Two panegyric and historical poems describing the good deeds of the great minister Vastupal of Gujarat.

I. KĪRTIKOUMUDĪ

By Mahakavi Somes'vara Deva

2. SUKRITASAMKĪRTANA

By Kavi Arisimha Thakkura

कलकत्तानिवासी

साधुचरित-श्रेष्ठिवर्य श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी पुण्यस्मृतिनिमित्त

प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथात्मक – इत्यादि विविधविषयगुम्फित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर, - राजस्थानी आदि नाना भाषानिबद्ध सार्वजनीन पुरातन वाङ्मय तथा नूतन संशोधनात्मक साहित्य प्रकाशिनी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद् - डालचन्दजी - सिंघीसत्पुत्र

स्व० दानशील - साहित्यरसिक - संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी



प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिनविजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

*

ऑनररी फाउंडर - डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

ऑनररी मैंबर - जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (दक्षिण) गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होशियारपुर (पंजाब) इत्यादि ।

*

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

व्यवस्थापक

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

प्रकाशक - ज ह दवे, ऑनररी डायरेक्टर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, न ७

मुद्रक - जयन्ती दलाल, वसन्त प्रिंटिंग प्रेस, घेलाभाईनी वाडी, घीकांटा, अहमदाबाद

महामात्य-वस्तुपाल-कीर्तिकीर्त्तनस्वरूप-काव्यद्वय

महाकवि-सोमेश्वरदेव-विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि-अरिसिंह ठक्कुर-विरचित

सुकृतसंकीर्तन



संपादनकर्ता

अनेकग्रन्थभाण्डागारोद्धारक-विविधदुर्लभ्यग्रन्थसंशोधक

जिनागमप्रकाशकारि-प्रतिष्ठानप्रवर्तक

आगमप्रभाकर-मुनिप्रवर श्री पुण्यविजय सूरि।



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन, बम्बई



विक्रमाब्द २०१७] प्रथमावृत्ति [खिस्ताब्द १९६१

ग्रन्थांक ३२] [illegible] मुद्रित [मूल्य रु० ६/५०

SINGHI JAIN SERIES

अद्यावधि मुद्रितग्रन्थ नामावलि

१ मेरुतुङ्गाचार्यरचित प्रबन्धचिन्तामणि
मूल संस्कृत ग्रन्थ.
२ पुरातनप्रबन्धसंग्रह बहुविध ऐतिह्यतथ्यपरिपूर्ण
अनेक प्राचीन निबन्ध संचय.
३ राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोश.
४ जिनप्रभसूरिकृत विविधतीर्थकल्प.
५ मेघविजयोपाध्यायकृत देवानन्दमहाकाव्य.
६ यशोविजयोपाध्यायकृत जैनतर्कभाषा.
७ हेमचन्द्राचार्यकृत प्रमाणमीमांसा.
८ भट्टाकलङ्कदेवकृत अकलङ्कग्रन्थत्रयी.
९ प्रबन्धचिन्तामणि – हिन्दी भाषांतर.
१० प्रभाचन्द्रसूरिरचित प्रभावकचरित.
११ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायरचित भानुचन्द्रगणिचरित.
१२ यशोविजयोपाध्यायविरचित ज्ञानबिन्दुप्रकरण.
१३ हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश.
१४ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग.
१५ हरिभद्रसूरिविरचित धूर्ताख्यान. (प्राकृत)
१६ दुर्गदेवकृत रिष्टसमुच्चय. (प्राकृत)
१७ मेघविजयोपाध्यायकृत दिग्विजयमहाकाव्य.
१८ कवि अब्दुल रहमानकृत सन्देशरासक. (अपभ्रंश)
१९ भर्तृहरिकृत शतकत्रयादि सुभाषितसंग्रह
२० शान्त्याचार्यकृत न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति.
२१ कवि धाहिलरचित पउमसिरीचरिउ. (अप॰)
२२ महेश्वरसूरिकृत नाणपंचमीकहा. (प्रा॰)
२३ श्रीभद्रबाहुआचार्यकृत भद्रबाहुसंहिता.
२४ जिनेश्वरसूरिकृत कथाकोषप्रकरण. (प्रा॰)
२५ उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदयमहाकाव्य.
२६ जयसिंहसूरिकृत धर्मोपदेशमाला. (प्रा॰)
२७ कोऊहलविरचित लीलावई कहा. (प्रा॰)
२८ जिनदत्ताख्यानद्वय. (प्रा॰)
२९.३०.३१ स्वयंभूविरचित पउमचरिउ.
भाग १. २. ३ (अप॰)
३२ सिद्धिचन्द्रकृत काव्यप्रकाशखण्डन.
३३ दामोदरपण्डित कृत उक्तिव्यक्तिप्रकरण.
३४ भिन्नभिन्न विद्वत्कृत कुमारपालचरित्रसंग्रह.
३५ जिनपालोपाध्यायरचित खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि
३६ उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा. (प्रा॰)
३७ गुणपालमुनिरचित जंबुचरियं. (प्रा॰)
३८ पूर्वाचार्यविरचित जयपायड-निमित्तशास्त्र. (प्रा॰)
३९ भोजनृपतिरचित शृङ्गारमञ्जरी. (संस्कृत कथा)
४० धनसारगणीकृत-भर्तृहरिशतकत्रयटीका.
४१ कौटल्यकृत अर्थशास्त्र - सटीक. (कतिपयअंश)
४२ विज्ञप्तिलेखसंग्रह विज्ञप्तिमहालेख - विज्ञप्तित्रिवेणी
आदि अनेक विज्ञप्तिलेख समुच्चय.
४३ महेन्द्रसूरिकृत नर्मदासुन्दरीकथा. (प्रा॰)
४४ हेमचन्द्राचार्यकृत-छन्दोऽनुशासन.
४५ वस्तुपालगुणवर्णनात्मक काव्यद्वय
कीर्तिकौमुदी तथा सुकृतसंकीर्तन
४६ सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी आदि वस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह.
४७ जयसोमविरचित मंत्रीकर्मचन्द्रवंशप्रबन्ध.

•

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr. G. H. Bühler's Life of Hemachandrāchārya.

Translated from German by Dr. Manilal Patel, Ph. D.

1 स्व. बाबू श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ [भारतीयविद्या भाग ३] सन १९४५.
2 Late Babu Shri Bahadur Singhji Singhi Memorial Volume
BHARATIYA VIDYA [Volume V] A. D. 1945.
3 Literary Circle of Mahāmātya Vastupāla and its Contribution to Sanskrit Literature. By Dr. Bhogilal J. Sandesara, M. A., Ph. D. (S J.S.33.)
4-5 Studies in Indian Literary History. Two Volumes.
By Prof. P. K. Gode, M A. (S. J. S. No. 37-38)

संप्रति मुद्यमाणग्रन्थनामावलि

१ विविधगच्छीय पट्टावलिसंग्रह.
२ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, भाग २.
३ गुणप्रभाचार्यकृत विनयसूत्र. (बौद्धशास्त्र)
४ रामचन्द्रकविरचित-मल्लिकामकरन्दादिनाटकसंग्रह.
५ तरुणप्रभाचार्यकृत षडावश्यकबालावबोधवृत्ति.
६ प्रद्युम्नसूरिकृत मूलशुद्धिप्रकरण-सटीक.
७ कुवलयमाला कथा, भाग २
८ सिद्धतिलकसूरिरचित मन्त्रराजरहस्य.

विषयानुक्रम ।

प्रासंगिक वक्तव्य

*

गूर्जर महामात्य वस्तुपालकी कीर्तिको काव्यबद्ध करनेका जिन कवियोंने प्रयत्न किया है उनमें राजपुरोहित कवि सोमेश्वर और ठक्कुर अरिसिंह मुख्य हैं। कवि सोमेश्वरने कीर्तिकौमुदी नामक काव्य रच कर और अरिसिंहने सुकृतसंकीर्तन काव्य बना कर, वस्तुपालकी यश कीर्तिको युगान्त तक स्थिर रखनेका सत्प्रयत्न किया है।

कीर्तिकौमुदी काव्यका कर्ता कवि सोमेश्वर सुप्रसिद्ध व्यक्ति है। वह वस्तुपालका अनन्य मित्र और राजपुरोहित था। वस्तुपालके गुणोंका वह बहुत अनुरागी और प्रशंसक था। वस्तुपालकी युद्धवीरता और दानवीरता का वह प्रत्यक्ष साक्षी था, इसलिये उसके काव्यकी गुणवत्ताका महत्त्व बहुत है। कविता की दृष्टिसे भी यह काव्य बहुत उच्च कोटिका है।

इस काव्यका, बहुत पहले (सन् १८८३ में) अहमदाबादके गुजरात कालेजके संस्कृतके प्रोफेसर ए. वी. काथवटे नामक विद्वान्ने संपादन कर 'बॉम्बे संस्कृत सीरीज़' नामक ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन किया था। प्रो. काथवटेने इसकी भूमिका रूपसे एक बहुत विस्तृत इंग्रेजी प्रस्तावना लिखी, जिसमें काव्यगत बातोंका विस्तृत ऊहापोह किया है। प्रो. काथवटे संपादित वह पुस्तक अब अलभ्य है। इसलिये इसका पुनर्मुद्रण करनेकी दृष्टिसे प्रस्तुत प्रकाशन किया गया है। मूल ग्रन्थके संशोधनमें कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियां भी और मिल आईं, इसलिये इसका यह प्रकाशन अधिक शुद्ध हो गया है।

इसके साथ, कवि अरिसिंह विरचित सुकृतसंकीर्तन काव्य भी संमिलित कर दिया है। क्यों कि ये दोनों काव्य, वर्णन और वस्तुकी दृष्टिसे, परस्पर बहुत कुछ साम्य रखते हैं।

'सुकृतसंकीर्तन' काव्यकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, जब स्व० जर्मन महाविद्वान् डॉ ब्युह्लरको मिली तो वे इसको देख कर बहुत आकृष्ट हुए और इस पर उन्होंने जर्मन भाषाके एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक जर्नल में, बहुत बडा निबन्ध लिख कर प्रकट किया। उस निबन्ध के महत्त्वको देख कर, इ. एच् बर्जेस नामक इंग्रेज विद्वान् ने, उसका इंग्रेजी अनुवाद कर, इन्डियन एन्टीक्वेरी नामक सुप्रसिद्ध पत्रिकामें प्रकट किया। पर मूल संस्कृत काव्य कहीं प्रकट नहीं हुआ था। इसलिये स्वर्गवासी मुनिवर श्री चतुरविजयजी महाराजने, इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त कर, भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित होने वाली 'आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला' के एक ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित किया। वह प्रकाशन भी अब अप्राप्य है, अतः इसका पुनर्मुद्रण भी इसके साथ कर देनेका हमारा विचार हुआ। इस प्रकार इसका पुनः प्रकाशन करनेकी हमारी इच्छाका मुनिवर्य्य श्री पुण्यविजयजी महाराजने सहर्ष स्वीकार कर, अपने स्वर्गीय गुरुमहाराजके संपादनको सुप्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार 'कीर्ति कौमुदी' और 'सुकृत संकीर्तन' इन दोनों काव्योंका संयुक्त प्रकाशन कर देना जब निश्चित हुआ, तो हमारे मनमें इन दोनों काव्योंके परिचयस्वरूप जो उक्त दो इंग्रजी निबन्ध लिखे गये हैं, उनको भी इसमें संमिलित करना अधिक उपयुक्त लगा। क्यों कि ये दोनों निबन्ध अब अप्राप्य हैं, और उन निबन्धोंके विद्वान् लेखकों द्वारा जिस परिश्रम और जिस अध्ययनके फल स्वरूप ये प्रौढ निबन्ध लिखे गये हैं, सर्वथा संग्रहणीय और सदैव पठनीय हैं। अतः हमने उन दोनों विशिष्ट निबन्धोंको भी यथावत् इस प्रकाशनमें मुद्रित कर दिये हैं।

स्व० मुनिवर्य्य श्री चतुरविजयजी महाराज द्वारा सपादित और प्रकाशित 'सुकृत सकीर्तन' काव्यके प्रास्ताविक रूपमें, स्व० विद्वान् चिमनलाल डा. दलाल (गायकवाड्स् ओरिएन्टल सीरीज, वडौदा, के मूल प्रतिष्ठापक)ने, ग्रन्थपरिचयात्मक छोटासा इंग्रेजी वक्तव्य लिखा था, उसको भी हमने इसके साथ सकलित कर देना उचित समझ कर, वैसा किया है। इस वक्तव्यमें वस्तुपालके कीर्तिकलापोंका वर्णन करने वाली समसामयिक जितनी रचनाए, उपलब्ध हैं, उनका सक्षिप्त परिचय दिया गया है।

महामात्य वस्तुपालके जीवन और कार्योंसे सबद्ध जितनी समकालीन साहित्यिक कृतिया उपलब्ध होती हैं उनका सक्षिप्त परिचय, हमने इस ग्रन्थमालाके ४ थे ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य'के किंचित् प्रास्ताविकमें लिखा है। उससे सबद्ध 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी' आदि वस्तुपालकी प्रशस्त्यात्मक रचनाओंका तथा उसके बनाये हुए मन्दिरों और मूर्तिओंके जितने शिलालेख अभी तक ज्ञात हुए हैं उन सबका भी, एक सग्रह ग्रन्थ, इसी ग्रन्थमालाके ५ वें ग्रन्थके रूपमें प्रकट किया गया है।

पहले, प्रस्तुत काव्य द्वय भी उसी सग्रहके अन्तर्गत सकलित रूपमें प्रकट कर देनेका विचार रहा और तदनुसार इसका मुद्रण कार्य भी कराया गया। परतु पीछेसे प्रो कायवटे लिखित 'कीर्तिकौमुदी' की इंग्रेजी प्रस्तावना और डॉ ब्युह्लर लिखित 'सुकृत सकीर्तन' काव्यका विशिष्ट परिचायक बहुमूल्य निबन्धका इंग्रेजी अनुवाद भी, इसमें सकलित कर देनेके विचारसे, प्रस्तुत ग्रन्थ को, अब ग्रन्थमालाके ३२ वें ग्रन्थके रूपमें, पृथक् प्रकट किया जा रहा है।

'धर्माभ्युदय महाकाव्य' 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी आदि वस्तुपाल-प्रशस्तिसग्रह' तथा प्रस्तुत 'कीर्तिकौमुदी तथा सुकृतसकीर्तन काव्य द्वय'—इन तीनों ग्रन्थोंका सपादन कार्य विद्वद्रत्न मुनिमहोदय श्री पुण्यविजयजी महाराजने किया है और इसके लिये हम इनके प्रति, अपना पुन पुन सादर कृतज्ञभाव प्रकट करना कर्तव्य समझते है।

महावीर जन्मदिन, चैत्र शुक्ला १३, स २०१७
ता ३० मार्च, १९६१, भारतीयविद्याभवन, बबई

—मुनि जिनविजय

—आभार प्रदर्शन—

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जो द्रव्य व्यय हुआ है उसका अर्द्ध भाग भारत सरकारने देनेकी उदारता प्रकट की है, अतः इसके लिये हम भारत सरकारके प्रति अपना सादर आभार प्रकट करते हैं।

गूर्जरेश्वरपुरोहित-

महाकविश्रीसोमेश्वरदेवविरचितं

कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यम् ।

(महामात्यश्रीवस्तुपालचरितात्मकम्)

प्रथमः सर्गः ।



॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

मङ्गलाचरणम्

श्रिये सन्तु सतामेते, चिरं चातुर्भुजा भुजाः । यामिका इव धर्मस्य, चत्वारः स्फुरदायुधाः ॥ १

कुर्वन् गिरिभुवि क्रीडां, दृष्टोन्नतपयोधरः । उल्लसचन्द्रकः प्रीतिं, नीलकण्ठः करोतु वः ॥ २

जटा-सीमन्तकान्तं वः, श्रियेऽस्तु शिवयोर्वपुः । तातेत्यम्बेति वाऽऽहूतं, गुहेन प्रतिवक्ति यत् ॥ ३

भूयान्मुदे नदेकं वः, शिव-केशवयोर्वपुः । करोति प्रणतिं यस्य, भीतः प्रीतश्च मन्मथः ॥ ४

सारस्वतमयं वन्दे, तमोपहमहं महः । अपि सूक्ष्मपदार्थानां, साक्षात्कारं करोति यत् ॥ ५

सरस्वतीं सदा वन्दे, यदुपास्तिसमुच्छ्रिताः । काव्यानि कुसुमानीव, सुवते कविपादपाः ॥ ६

कविवर्णना

वन्यास्ते कवयो येषां, सूक्तिसौरभवासिता । कृतत्रिजगदाह्लादं, कीर्तिर्भ्रमति भूभुजाम् ॥ ७

जयन्ति कवयः केऽपि, सूक्तैर्मन्त्रैरिव द्रुतम् । तांस्तांश्चिद्रूपचित्तेषु, रसानावेशयन्ति ये ॥ ८

मधुना लसदुत्कर्षां, कविषट्पदपद्मिनीम् । रामायणकवेस्तस्य, हृद्यां वन्दे सरस्वतीम् ॥ ९

स्तुमस्तमेव वाल्मीकिं, यत्प्रसादात् प्रशस्यते । लोकैर्दाशरथं वृत्तमपि श्रवणदुःखकृत् ॥ १०

स नमस्यः कथं न स्यात्, सतां सत्यवतीसुतः । सुपर्वोपचितं चक्रे, यः स्वर्गमिव भारतम् ॥ ११

कालिदासः कविर्जीत, श्रीरामचरितस्य यत् । स एष शर्करायोगः, पयसः समपद्यत ॥ १२

विरक्तश्चेद् दुरुक्तिभ्यो, निर्वृतिं वाऽथ वाञ्छसि । वयस्य ! कथ्यते तथ्यं, माघसेवां कुरुष्व तत् ॥ १३

जितार्जुनतेजस्कः कीर्तिश्चगुणाश्रिता । यस्येव भारते भाति, कृतिः कृष्णस्य मित्र ॥ १४

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा, कवयो मौनमाश्रिताः । बाणध्वनावनध्यायो, भवतीति स्मृतिर्यतः ॥ १५

वचनं धनपालस्य, चन्दनं मलयस्य च । सरस हृदि विन्यस्य, कोऽभून्नाम न निर्वृतः ॥ १६

---

१ "गम्यस्याप्ये" (सिद्धहेमसूत्र २-२-६२) इति सूत्रेण चतुर्थी, श्रियं कर्तुं सन्तु इत्यर्थः इति टिप्पणी वा० पुस्तके ॥ २ पार्वत्याम्, पक्षे पर्वतभूमौ वा० टि० ॥ ३ स्तना मेघाश्च वा० टि० ॥ ४ उल्लसन् चन्द्रो यस्य "शेषाद्वा" (सिद्धहेम ७-३-१७५) इति बहुव्रीहौ कच्, पक्षे चन्द्रकाः चादयः इति स्त्री. वा० टि० ॥ ५ 'ईश्वरो मयूरश्च वा० टि० ॥ ६ चाऽऽहू' प्र० यास० ॥ ७ 'तमहं ध' प्र० । 'तमयं व' इति स्थाने 'तमिदं व' इति संशोधित पाठ वा० ॥ ८ 'यास्ति स' मु० ॥ ९ स्थापनामन्त्रैः वा० टि० ॥ १० स्थापयन्ति वा० टि० ॥ ११ पक्षे सरवणो यो दशरथेन हतः वा० टिप्पणी ॥ १२ कृष्णद्वैपायनव्यासः वा० टि० ॥ १३ देवाः, पक्षे शोभना अधिकाराः वा० टि० ॥ १४ जनितम् अर्जुनस्य-पार्थस्य बल येन तम्, अर्थाद् युधिष्ठिरम्, पक्षे अर्जुनं-निर्मलम् वा० टि० ॥ १५ नमीश्वरं-चन्द्रम् वा० टि० ॥ १६ बाणः कवीश्वरः शराश्च वा० टि० ॥ १७ अणोऽकड वा० टि० ॥

विल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादेव सरस्वती । नीयते जातु कालुष्यं, दुर्जनैर्न घनैरपि ॥ १७
सदा हृदि वहेम श्रीहेमसूरेः सरस्वतीम् । सुवया शब्दरत्नानि, ताम्रपर्णी जिता यया ॥ १८
स्तुमः सुमनसां श्रेष्ठं, नीलकण्ठमहर्निशम् । दर्पकोपचितं यस्य, सर्वज्ञस्य न मानसम् ॥ १९
श्रीप्रह्लादनदेवोऽभूद्, द्वितयेन प्रसिद्धिमान् । पुत्रत्वेन सरस्वत्याः, पतित्वेन जयश्रियः ॥ २०
श्रीभोज-मुञ्जदु:खार्ता, रम्यां वर्तयता कथाम् । प्रह्लादनेन साह्लादा, पुनश्चक्रे सरस्वती ॥ २१
कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च, नरचन्द्रो जयत्ययम् । प्रशस्तिर्यस्य काव्येषु, सङ्क्रान्ता हृदयादिव ॥ २२
मुनेर्विजयसेनस्य, सुधामधुरया गिरा । भारतीमञ्जुमञ्जीरस्वरोऽपि परुषीकृतः ॥ २३
सुभटेन पदन्यासः, स कोऽपि समितौ कृतः । येनाधुनाऽपि धीराणां, रोमाञ्चो नापचीयते ॥ २४
स्वबाहुपाकेन यो वाचां, पाकं शास्यपरान् कवीन् । स्वयं हरिहरः सोऽभूत्, कवीनां पाकशासनः ॥ २५
न मानः श्लाघ्यते कैश्चिन्नाऽभिनन्दोऽभिनन्द्यते । निष्कलः कालिदासोऽपि, यशोवीरस्य सन्निधौ ॥ २६
प्रकाश्यते सदा साक्षात्, यशोवीरेण मन्त्रिणा । मुखे दन्तयुता ब्राह्मी, करे श्रीः स्वर्णमुद्रया ॥ २७
अर्जितास्ते गुणास्तेन, चौहमानेन्द्रमन्त्रिणा । विधेरप्येष नन्दिन्यौ, यैरनेन नियन्त्रिते ॥ २८
वस्तुपाल-यशोवीरौ, सत्यं वाग्देवतासुतौ । एको दानस्वभावोऽभूदुभयोरन्यथा कथम् ? ॥ २९

सज्जन-दुर्जनवर्णना

हृद्या यादःपरित्यक्ता, निर्व्याजा सत्पद्रुमा । अमालिन्यकृतो दीपाः, श्रीतारं सन्तु साधवः ॥ ३०
साधूनां दुग्धता काचिदचिन्त्यैव तथाहि ये । परेषामेव गृह्णन्ति, गुणान् भूरिगुणा अपि ॥ ३१
रमयन्ति न कं नाम, सन्तश्छायाद्रुमा इव । पुंष्यन्ति स्मितपुष्पं ये, सूचितार्थिफलोदयम् ॥ ३२
अमृतैर्मानसं मन्ये, सम्पूर्णं सततं सताम् । स्यन्देनेव तदीयेन, वाचो मुञ्चन्ति नाऽर्जनाम् ॥ ३३

अश्रुप्रवर्तैर्धूमैरिव किं तैरसाधुभिः ? । रसवत्या कवेरग्रौ, मालिन्यं जनयन्ति ये ॥ ३४
पृथिकृता भुजङ्गानां दुर्जनानां च वेधसा । विमृश्य नियतं न्यस्तं, विषं पुष्ठे मुखं हृदि ॥ ३५
अस्मिन् कलौ खलोत्सृष्टदुष्टवाग्बाणदारुणे । कथं जीविष्यन्ति स्तु, सन्नाहाः सज्जना यदि ? ॥ ३६
निदानं नात्र पश्यामि, यदुपेयापि दुर्जनाः । आक्रोशन्ति भृशं साधूनश्वगानिव सूकराः ॥ ३७
दोषजैस्तेन रोदिव, सह साधनया सभा । व्याख्याऽप्यवकरभूमीव, सहसा धनरासभा ॥ ३८
दुर्जनैस्तर्ज्यमानस्य, साधोरधिकमेधते । भस्मभिर्घृष्यमाणस्य, मुकुरस्येव चारुता ॥ ३९

आस्तां तावत् खलक्रोधः, सत्प्रमोदोऽपि दुर्जने । वधाय जायते दृष्टौ, रसैर्गानिव वायसः ॥ ४०
दुर्जनानां छिद्रिलक्ष्यानिपि, सूपैर यन् । निर्मोकनाशिना नेयामुचिना स्वजिह्वना ॥ ४१
अस्मिन्नसमयाग्न्दे, स्वर्नोत्पन्नमहत्त्वे । चरम सज्जनात्पा, स्निग्धबन्धौ भवन्तु मे ॥ ४२

---

१ कविम्, पक्षे ईश्वरम् पा० टि० ॥ २ 'यविदृक्षय मु० ॥ ३ मिनी-[illegible] पक्षे [illegible] पदन्यासः कृतः । पक्षे समितौ सङ्ग्रामे पा० टि० ॥ ४ निपुणौ [illegible] च पा० टि० ॥ ५ बध्नीम् [illegible] दृष्टान् पा० टि० ॥ ६ इन्द्र पा० टि० ॥ ७ 'न्दोऽपि मन्यते' पा० ॥ ८ सत्तां सा' प्र० पा० ॥ ९ ११ (तृतीयैकवचनम् इन्दर्द) पा० टि० ॥ १० औदार्यंदय, पक्षे [illegible] पा० टि० ॥ ११ बहुमाल पा० टि० ॥ १२ इदानादः मु० ॥ १३ पुष्यन्ति पा० । पुष्पन्ति मु० ॥ १४ 'मार्गेषु प्र० पा० ॥ १५ 'तमानि' प्र० ॥

भाति यत्र कपोलान्त सङ्क्रान्तेन्दुर्वधूजन । राजमुद्राङ्कित कोश , कन्दर्पनृपतेरिव ॥ ६७

यत्र यत्र प्रसर्पन्ति, सलील मृगीदृश । दार्सीव दृष्टिरवनि, तत्र तत्र विलासिनाम् ॥ ६८

वीक्षिता वल्लिप्रांत, तन्वीभिर्यत्र केऽपि[1] ये । मन्ये व्यावर्तिनाङ्गेन, तेऽनङ्गेनापि[2] ताडिता ॥ ६९

रूपेणाप्रतिमा कान्ता, यत्र धाता कृता किम् । तथापि प्रतिमास्तासा, सञ्जाता रत्नभित्तिषु ॥ ७०

स्नात्वा सरसि सौरभ्य, लोलोद्यानादुपाहरन् । तर्भासमीरण खैण, यत्र कामीव सेवते ॥ ७१

सिद्धसरोवर्णनम्

यस्मिन् सरो हरोपेन्द्रप्रासादै परितश्चितम् । आनुत्तमौक्तिक भूमेर्भायेकमिव कुण्डलम् ॥ ७२

आभाति यस्य गम्भीर, सर स्मेरै सरोरुहै । खेलन्तीना सुरस्त्री तोयदेवताना मुखैरिव ॥ ७३

यस्यान्तर्गिरिशागारदीपका प्रतिबिम्बिता । शोभन्ते निशि पातालव्यालमौलिमणिश्रिय ॥ ७४

यस्योच्चै सरसस्तीरे, राजते रजतोज्ज्वल । कीर्तिस्तम्भो नभोगङ्गाप्रवाहोऽवतरन्निव ॥ ७५

हरप्रासादसन्दोहमनोहरमिद सर । राजते नगर तच्च, राजहसैरलङ्कृतम् ॥ ७६

सशङ्ख-चैक्र प्रथितप्रभूतावतारशाली कमलाभिराम ।
स एष कासारशिरोवतस, कसप्रहर्तु प्रतिमा बिभर्ति ॥ ७७

न मानसे[7] भावति मानसं मे, पम्पा न सम्पादयति प्रमोदम् ।
अच्छोदमच्छोदकमप्यसार, सरोवरे राजति सिद्धभर्तु ॥ ७८

प्रतितटघटितोर्मिघातजातप्रसृमरफेनकदम्बकच्छलेन ।
हैरहसितसितद्युति स्वकीर्ति, दिशि दिशि कन्दलयत्यय तडाग ॥ ७९

अलघुलहरिलिप्तव्योमभागे तडागे, तरलतुहिनपिण्डापाण्डुडिण्डीरदम्भात् ।
तरुणतरगितापव्यापदापनमुच्चैरिह विहरति ताराचक्रवाल विशालम् ॥ ८०

एकत्र स्फुटदब्जराजिजरजसा बभ्रूकृत सुभ्रुवा, प्रभ्रश्यत्कुचकुम्भकुङ्कुमरसैर्यत्र रक्तीकृत ।
अन्यत्र स्मितनीलनीरजलसद्दलच्छोयेन नीलीकृत, श्रेय सिन्धुरवैर्णैकम्बलधुरा धत्ते सर शेखर ॥ ८१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥



---

१ °पि यत् प्र० मु० ॥ २ °पि पीडिता वा० ॥ ३ °दीपिका मु० ॥ ४ °चप्रथित प्रभू° मु० ॥ ५ अत्रतारास्तीर्थाभिधा पक्षे 'मत्स्य १ कूर्मो २ वराह ३ च' इत्यादि दशावतारा वा० टि० ॥ ६ प्रतिमां प्र० ॥ ७ °से मध° मु० ॥ ८ देवसरोवरं श्रीसिद्धराजजयसिंहदेवस्य वा० टि० ॥ ९ हरिहरहसितद्युति मु० ॥ १० अप्यत्र प्र० वा० ॥ ११ "सेनाजालामुपाच्छाद्य–" २ । ४ । २५ । इति न पुस्तम् वा० टि० ॥ १२ °वर्ण्यक° प्र० ॥ १३ धुर मु० ॥

द्वितीयः सर्गः ।

चौलुक्यवंशवर्णनम्

अथ चौलुक्यभूपालः, पालयामास तत् पुरम् । जितराजसमाजः श्रीमूलराज इति श्रुतः॥ १

आवर्जिता जितारातेर्गुणैर्वर्णैरिपीरिव । गूर्जरेश्वरराज्यश्रीर्यस्य जज्ञे स्वयंवरा ॥ २

लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः । दुर्धरं वारपं हत्वा, हास्तिकं यः समग्रहीत् ॥ ३

सपत्नाकृतशत्रूणां, सम्पराये स्वपत्त्रिणाम् । महेच्छः कच्छभूपालं लक्षं लक्षं चकार यः ॥ ४

दानोपद्रुतदारिद्र्यं, शौर्यनिर्जितदुर्जनम् । कीर्तिस्थगितकाकुत्स्थं, यो राज्यमकरोच्चिरम् ॥ ५

तस्मिन्नथ कथाशेषे, निःशेषितनिजद्विषि । राजा चामुण्डराजोऽभून्महीमण्डलमण्डनम् ॥ ६

विरोधिवनिताचित्ततापाध्यापनपण्डिताः । यदीयाः कटकारम्भाः, कृतजम्भारिभीतयः ॥ ७

पाणिपङ्कजवर्तिन्या, स्फुरत्कोशविलासया । यस्यासिभ्रमरश्रेण्या, भिन्ना वंशाः क्षमाभृताम् ॥ ८

लोकत्रयोल्लसत्कीर्तिर्महीपतिमतल्लिका । राजा वल्लभराजाख्यस्ततस्तत्तनुभूरभूत् ॥ ९

सम्भूतकम्पसम्पत्तेर्यदातङ्केन केनचित् । जगाल मालवेशस्य, करवालः करादपि ॥ १०

उपरुन्धन् विरुद्धानां, पुरीं पुरुषपौरुषः । जगज्झम्पन इत्येष, विरोधिस्त्रीभिरीरितः ॥ ११

बभूव भूपतिस्तस्यावरजो विरजस्तमाः । श्रीमान् दुर्लभराजाख्यः सुदुर्लभयशाः परैः ॥ १२

कालेन करवालेन, भोगिनेवाभिरक्षितम् । निधानमिव यद्राज्यमनाहार्यं परैरभूत् ॥ १३

सर्वथाऽनुपभोग्येषु, यस्य सौभाग्यभासिनः । न करः परदारेषु, द्विजंसारेषु चापतत् ॥ १४

तस्य भ्रातृसुतः श्रीमान्, भीमाख्यः पृथिवीपतिः । विष्टपत्रितयाभीष्टप्रवृत्तिप्रतिभूरभूत् ॥ १५

मण्डलाग्रेण यः शैत्यशालिना विस्मृतस्मितम् । चकार भोजमम्भोजमिव पीयूषदीधितिः ॥ १६

एकधारापतिर्यस्य, द्विधारेणासिना जितः । किं चित्रं ? यदसौ जेतुं, शतधारमपि क्षमः ॥ १७

असौ गुणीति मत्वेव, भोजः कण्ठमुपेयुषा । धनुषा गुणिना यस्य, नरयन्त्रभ्रान्न पातितः ॥ १८

सुपर्णकेतनाम्यर्णं, तत्र क्षत्त्रपतौ गते । धात्रीं पौत्रीं वे तत्पुत्रः, श्रीकर्णः सार्णवां दधे ॥ १९

गुरुणा विक्रमेणायं, बभूव पितृसन्निभः । आकारेण तु रम्येण, भूपोऽभूदात्मभूसदृक् ॥ २०

विना कर्णेन तेन स्त्रीनेत्राणां न रतिः क्वचित् । इतीव जज्ञिरे तेषामुपकर्णं प्रवृत्तयः ॥ २१

---

१ नारायणस्य धा० टि० ॥ २ अत्यन्तपीडिताः धा० टि० ॥ ३ समासे धा० टि० ॥ ४ दग्धतुषाम् धा० टि० ॥ ५ महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षीचकार मु० ॥ ६ उदारः धा० टि० ॥ ७ लाबड इति नामानम् धा० टि० ॥ ८ लक्षीचकार मु० । वेध्यम् धा० टि० ॥ ९ 'पद्धत' मु० ॥ १० कोशः खड्गपिधानकम्, पक्षे कुड्मलम् धा० टि० ॥ ११ लोकोत्तरलस' प्र० ॥ १२ 'नरकाश्च' मु० ॥ १३ मालवभवनेषु धा० टि० ॥ १४ खड्गेन, पक्षे अधानमण्डलेन धा० टि० ॥ १५ तीक्ष्णत्वम्, पक्षे शीतलत्वम् धा० टि० ॥ १६ हास्य विकासम् धा० टि० ॥ १७ नारायणसमीपम्, स्वर्गमित्यर्थः धा० टि० ॥ १८ 'त्रीं धात्रीमपौत्रीं च धी' मु० ॥ १९ वराहः धा० टि० ॥ २० 'पामनुक' मु० ॥

तत्कर्णाऽर्जुनयोर्वैरं, पूर्वं कर्णं स्मरन्निव । अर्जुनं गमयामास, यशो देशान्तराणि यः ॥ २२

अभिरामगुणग्रामो, रामो दशरथादिव । सूनुः श्रीजयसिंहोऽस्माज्जायते स्म जगज्जयी ॥ २३
शिशुनाऽपि शुनासीरवीर्यवृत्तिमतामुना । रसा भुजिष्यतां नीता, पिशुना येन भूभुजः ॥ २४
अपारपौरुषोदारं, खङ्गारं गुरुमत्सरः । सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ, करिणं केसरीव यः ॥ २५
असङ्ख्यहरिसैन्येन, प्रक्षिप्तानेकभूभृता । बद्धः सिन्धुपतिर्येन, वैदेहीदयितेन वा ॥ २६
अमर्षणं मनः कुर्वन्, विपक्षोर्वीभृदुन्नतौ । अगस्त्य इव यस्तूर्णमर्णोराजमशोषयत् ॥ २७
गृहीता दुहिता तूर्णमर्णोराजस्य विष्णुना । दत्ताऽनेन पुनस्तस्मै, भेदोऽभूदुभयोरयम् ॥ २८
द्विषां शीर्षाणि लूनानि, दृष्ट्वा तत्पादयोः पुरः । चक्रे शाकम्भरीशोऽपि, शङ्कितः प्रणतं शिरः ॥ २९
मालवस्वामिनः प्रौढलक्ष्मीपरिवृढः स्वयम् । समित्सुपरमारो यः, परमारानमारयत् ॥ ३०
क्षिप्त्वा धारापतिं राजशुकवत् काष्ठपञ्जरे । यः काष्ठापञ्जरे कीर्तिराजहंसीं न्यवीविशत् ॥ ३१
एकैव जगृहे धारा, नगरी नरवर्मणः । दत्ता येनाश्रुधारास्तु, तद्वधूनां सहस्रधा ॥ ३२
धाराभङ्गप्रसङ्गेन, यस्याऽऽगमनस्य शङ्कितः । प्राघूर्णकमिषाद् दण्डं, महोबकपतिर्ददौ ॥ ३३
मुधेव वसुधा लब्धुं, वाञ्छिता येन विद्विषा । यस्योल्लसदसिर्बाहुः, राहुचक्रे तमाहवे ॥ ३४
जनैर्न मेने यः स्वामी, कुमार इव शक्तिमान् । ताम्रचूडध्वजः सोऽभूत्, किन्तु केकिध्वजः परः ॥ ३५
येन विश्वैकवीरेण, न स राजा जितो न यः । काष्ठा काऽपि न सा यस्य, यशोभिः शोभिता न या ॥ ३६
गणेशस्येव यस्याग्र्यपुष्करस्य नृपस्थितेः । आत्मसारः करस्थोऽभूद्, गौडो मोदकवन्नृपः ॥ ३७
स्मशाने यातुधानेन्द्रं, बद्ध्वा बर्बरकाभिधम् । सिद्धराजेति राजेन्दुर्यो जज्ञे राजराजिषु ॥ ३८
रजोभिः समरोद्भूतैर्यत् पुरा मलिनीकृतम् । तत् पश्चात् कीर्तिकल्लोलैर्येन क्षालितमम्बरम् ॥ ३९

महीमण्डलमार्तण्डे, तत्र लोकान्तरं गते । श्रीमान् कुमारपालोऽथ, राजा रञ्जितवान् प्रजाः ॥ ४०
पृथुप्रभृतिभिः पूर्वैर्गच्छद्भिः पार्थिवैर्दिवम् । स्वकीयगुणरत्नानां, यत्र न्यास इवार्पितः ॥ ४१
न केवलं महीपालाः, सायकैः समराङ्गणे । गुणैर्लोकम्पृणैर्येन, निर्जिताः पूर्वजा अपि ॥ ४२
मुक्तैकरतेर्यस्य, मृतवित्तानि मुञ्चतः । देवस्येव नृदेवस्य, युक्ताऽभूदमृतार्थिना ॥ ४३
करवालजले स्नाता, वीराणामेव योऽग्रहीत् । धौतां बाष्पाम्बुधाराभिर्वैरीणां न तु श्रियम् ॥ ४४
शूराणां सम्मुखान्येव, पदानि समरे ददौ । यः पुनस्तत्कलत्रेषु, मुखं चक्रे पराङ्मुखम् ॥ ४५
हृदि प्रविष्टयद्बाणक्लिष्टेनाघूर्णितं शिरः । जाङ्गलक्षोणिपालेन, व्याचक्षाणैः परैरपि ॥ ४६
चूडारत्नप्रभाकान्तं, नम्रं गर्वादकुर्वन् । कृपाणे कुङ्कणेशस्य, यश्चकार शरैः शिरः ॥ ४७

---

१ इन्द्र चा० टि० ॥ २ वा इवार्थे चा० टि० ॥ ३ °राध्यंमप्र° मु० ॥ ४ यस्य सान्निध्यतः° मु० ॥ ५ महोद्रयपति° प्र० वा० ॥ ६ एतच्छ्लोकानन्तरमस्मत्पार्श्वस्थप्राचीनप्रतिद्वयेऽप्यनुपलभ्यमानं मुद्रितपुस्तके टिप्पण्यामधिकमेकं पद्यं निर्दिष्टं वर्तते । तथाहि—

महोबकपुराधीशाज्जितान्मदनवर्मणः । कोटीः षण्णवतीर्हेम्नो, यस्तन्मानमिवाऽऽददे ॥
७ इव पुष्पम्, पक्षे मूलकः चा० टि० ॥ ८ यत्र वा० ॥ ९ ... .रते° प्र० । वीतरागरते मु० । मुद्रितपुस्तकगतोऽयं पाठः केनचिद् रिक्तस्थाने कल्पयित्वा पूरितः, न चासौ समीचीन इति ॥ १० °राणां द्रु न धि° प्र० वा० । निःप्रतिमुनाना चा० टि० ॥

रागाद् भूपालवल्लाल-मल्लिकार्जुनयोर्मृधे । गृहीतौ येन मूर्धानौ, स्तनाविव जयश्रियः ॥ ४८
दक्षिणक्षितिपं जित्वा, यो जग्राह द्विपद्वयम् । तद्यशोभिः करिष्यामो, विश्वं नश्यद्विपद् वयम् ॥ ४९
विहारं कुर्वता वैरिवनिताकुचमण्डलम् । महीमण्डलमुद्दण्डविहारं येन निर्ममे ॥ ५०
पादलग्नैर्महीपालैः पशुभिश्च तृणाननैः । यः प्रार्थित इवात्यर्थमहिंसाव्रतमग्रहीत् ॥ ५१

भूपालोऽजयपालोऽभूत्, कल्पद्रुमसमस्ततः । चक्रे वसुन्धरा येन, काञ्चनैरनकिञ्चना ॥ ५२
दण्डे मण्डपिका हैमी, सह मत्तैर्मतङ्गजैः । दत्वा पादं गले येन, जाङ्गलेशादगृह्यत ॥ ५३
जामदग्न्य इवोद्दामधामसंर्सितभास्करः । क्षत्त्रालक्षालितां धात्रीं, [1]श्रोत्रियत्राचकार यः ॥ ५४
दानानि ददतो नित्यं, नित्यं दण्डयतो नृपान् । नित्यमुद्वहतो नारीर्यस्याऽऽसीत् त्रिगणः समः ॥ ५५

धृतपार्थिवनेपथ्ये, निष्क्रान्तेऽत्र शतक्रतौ । जयन्ताभिनयं चक्रे, मूलराजस्तदङ्गजः ॥ ५६
चापलादिव बालेन, रिङ्गता समराङ्गणे । तुरुष्काधिपतेर्येन, विप्रकीर्णा वरूथिनी ॥ ५७
यस्मिन्म्लेच्छकङ्कालस्थलमुच्चैर्विलोकयन् । पितुः प्रालेयशैलस्य, न स्मरत्यर्बुदाचलः ॥ ५८
द्रुतमुन्मूलिते तत्र, धात्रा कल्पद्रुमाङ्कुरे । उज्जगामानुजन्माऽस्य, श्रीभीम इति भूपतिः ॥ ५९
भीमसेनेन भीमोऽयं, भूपतिर्न कदाचन । बकापकारिणा तुल्यो, राजहंसदसक्षम ॥ ६०
मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च, बलवद्भिः शनैः शनैः । बालस्य भूमिपालस्य, तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१

वीरधवलवंशवर्णनम्

अथ तत्रैव चौलुक्यवंशे शाखान्तरोन्नतः । अर्णोराजः स राजर्षिस्तं ममर्प न विप्लवम् ॥ ६२
धवलस्य सुतेनापि, तेन कृष्णानुकारिणा । राष्ट्रं निष्कण्टकीकर्तुमारेभे सुभटेन तत् ॥ ६३
विस्फुरत्तीव्रहेतीनां दधानामिव सर्वतः । दुष्टानां व्यथितानिष्टं, यत्कृपाणपयोधरः ॥ ६४
विचिन्वता रुचिं हैमीं, द्विषदुद्वेगदायिना । व्याप्तं यस्य प्रतापेन, यशसा च जगत्त्रयम् ॥ ६५
आ सम्भवादुदूढस्य, निर्व्यूढस्य च सङ्गरे । प्राणैरुद्यापनं चक्रे, निजशौर्यव्रतस्य यः ॥ ६६

तत्पुत्रः प्रसरत्कीर्तिपताकाचुम्बिताम्बरः । श्रीलावण्यप्रसादोऽस्ति, प्रासादः शौर्यसम्पदः ॥ ६७
आकाशमिव चन्द्रेण, पारीन्द्रेणेव काननम् । रम्यं तथाऽनतिक्रम्यं, कुलं येन बभूव तत् ॥ ६८
जघ्ने येनासिदण्डेन, गाढं, नड्डूलनायकः । निर्यातेनैव तेनामी, कम्पन्तेऽद्यापि भूभृतः ॥ ६९
न चौरस्तस्य सौराज्ये, दौरात्म्यं कुरुते क्वचित् । स्वयमेव पुनः कीर्तिं, हरति प्रतिभूभुजाम् ॥ ७०
तेजस्तदिह दान्तारि, दशमस्तक-लङ्कयोः । बभूव भुजयोर्यस्य, राम-लक्ष्मणयोरिव ॥ ७१
पुण्डरीकं दधत्येकं, राजहंसाननेकशः । आकृष्टारियशःफेना, प्रतस्थे यस्य वाहिनी ॥ ७२
समन्ततोऽपि सामन्तगोत्रैर्निस्तुङ्गितैरिभिः । नाऽऽसीन्नृपतिनागस्य यस्य सञ्चारगतिक्षतिः ॥ ७३
पुरो मन्दरवद् वीरस्य यं निष्कम्पतया स्थितम् । विनिवृत्तमुपेयापि, धाराधीशपयोधिना ॥ ७४
दक्षिणः क्षोणिपालोऽपि, घनसैन्योऽप्यविक्रमः । येन तद्विपरीतेन, परित्यजति विग्रहम् ॥ ७५

---

१ श्रोत्रियस्य हस्ते श्रोत्रियसात्करोति वा० टि० ॥ २ समुदायः वा० टि० ॥ ३ वैर वा० टि० ॥ ४ °र्णा विरू° प्र० वा० ॥ ५ °र्षिस्तं सामर्पत विप्ल° मु० ॥ ६ विंतन्व° वा० ॥ ७ °प्रमुदे° वा० ॥ ८ नड्डूल° वा० । नड्डल° मु० ॥ ९ °स्तत्र सौ° मु० ॥ १० °स्थे तस्य मु० ॥

श्रीवीरधवलस्तस्य, सूनुर्वीरशिरोमणिः । युद्धे जयश्रियं धन्वन्यारावैराजुहाव यः ॥ ७६

आत्मानमात्मजे तस्मिन्नशेषगुणभूषणम् । स पिता दर्पणप्राये, सङ्क्रान्तमिव पश्यति ॥ ७७

बाहुभ्यामिव विक्रान्तो, दन्ताभ्यामिव कुञ्जरः । अभूष्य पितृपुत्राभ्यां, वंशस्ताभ्यां बभूव सः ॥ ७८

वृतविश्वमुदाऽनेन, दानेन प्रतिवासरम् । सुतेन जनता तेन, तातेन च समृध्यते ॥ ७९

अप्यरातिशराघातजातव्रणनतोन्नते । वीरलक्ष्मीश्चिरं यस्यै, वस्तुं वक्षसि वाञ्छति ॥ ८०

वीरः समरकासारे, शिरोभिः सह वैरिणाम् । करीन्द्रपुण्डरीकाणि, कन्दयुक्तानि योऽग्रहीत् ॥ ८१

अरातिराजन्यशराभिघाते, प्रघातभूमौ पतितोत्थितो यः ।
गम्भीरवीरेन्द्रबलाम्बुराशेर्लब्धेव गाधं पुनरुन्ममज्ज ॥ ८२

अथैकदा कन्दलितप्रतापसन्तापिताशेषविपक्षपक्षः ।
निशावसाने न निशातबुद्धिः, प्राबुध्यत श्रीलवणप्रसादः ॥ ८३

प्रबुद्धमात्रोऽपि कुमारपुत्रमाकारयामास नृपावतंसः ।
पुरोधसे तत् किल रात्रिदृष्टं, शिष्टाय तस्मै विनिवेदयिष्यन् ॥ ८४

समेत्य सोमेश्वरदेवनामा, नमस्य तं स्वस्ति निगद्य चास्मै ।
प्रसन्नमूर्तेः पुरतः स तस्य, दृष्टादरो विष्टरमाससाद ॥ ८५

पुरस्कृतस्यास्य पुरः पुरारिप्रसादलब्धे लवणप्रसादः ।
वीरेण तेनानुगतः सुतेन, तं स्वप्नमित्थं कथयाम्बभूव ॥ ८६

जानेऽद्य विद्याधरसुन्दरीभिर्दरीगृहद्वारविहारिणीभिः ।
शृङ्गारितं शृङ्गमहं महाद्रेरारूढवानुद्धृतधन्वजस्य ॥ ८७

वृतासनं तन्मणिवेदिकाया, जायाङ्कितामर्धतनुं दधानम् ।
प्रसन्नवक्त्राम्बुजमह गिताङ्गै जगत्पतिं पूजयितुं प्रवृत्तः ॥ ८८

विसृज्य पूजामथ मन्मथारेः, समाधिमुद्रां विदधामि यावत् ।
तावत् पुरः कामपि वामनेत्रां, रत्नामिवाऽऽकाशतलादपश्यम् ॥ ८९

श्वेताशुकं श्वेतवदनं वहन्तीं, श्वेतांशुका श्वेतविलेपना ताम् ।
श्वेता कराग्रे दधतीं च मालामालोक्य यावद्विमनिविस्मितोऽस्मि ॥ ९०

कस्यासि ? काऽसि ? त्वमिहासि कस्मादिति ब्रुवे यावदुपागतां ताम् ।
तावत् तयैवाभिहितोऽस्मि कान्तदन्तद्युता दत्तसितातपत्रः ॥ ९१

हे वीर ! वैरिव्रजिनीगजेन्द्रघण्टस्थगण्डस्थलभङ्गचण्ड ! ।
प्रत्यर्थिमार्थेन पदर्थ्यमाना, जानीहि मा गुर्जरराज्यलक्ष्मीम् ॥ ९२

१ सः मु० ॥ २ 'न्य पार्श्वं पक्ष' मु० ॥ ३ प्रपात' प्र० ॥ ४ 'लब्धायगा' प्र० । 'लब्धेर-गाधे मु० ॥ ५ पा० आदर्शे पदच्छेददर्शनद्वारा नमस्यते इति एक पदं दर्शितमस्ति ॥ ६ कुम्भम् प्र० टि० ॥ ७ ईश्वर पा० टि० ॥ ८ कैलास प्र० टि० ॥ ९ ध्यानम् प्र० टि० ॥ १० पुनः मु० ॥ ११ 'लामिति' पा० ॥ १२ 'स्थमण्डनमण्डचण्ड पा० मु० ॥ १३ 'राजल' मु० ॥

दिवं गतास्ते बत ! गूर्जरेन्द्रास्ते कुञ्जरेन्द्राश्च हताः सपत्नैः ।
येषां क्षमाभृद्दलनक्षमेषु, भुजेषु दन्तेषु च मे निवासः ॥ ९३

यो वर्तते सम्प्रति चक्रवर्तिपदेऽत्र बालः स बलान्यरीणाम् ।
क्षमः समग्राणि न निग्रहीतुं, दीपस्तमांसीव तटस्थितानि ॥ ९४

ये मन्त्रिणो येऽत्र च मण्डलीकास्तेषु क्रमो नास्ति पराक्रमोऽस्ति ।
प्रतिक्रिया काऽस्तु ततोऽस्ति येषां, कामो मयि स्वामिपरिग्रहेऽपि ॥ ९५

आस्ते सहस्रः स पुमान् न कोऽपि, यो मामिमामुद्धरते निमग्नाम् ।
ग्रहीतुमेते हि सतां विभूतिं, यतं वितन्वन्ति नराः कराणाम् ॥ ९६

सौवस्तिको नास्ति स आमशर्मा, वर्मायितं येन सुधर्मणा मे ।
गतः स मुञ्जालमुतश्च मन्त्रैर्यः क्षत्रसर्पानकरोद् विदर्पान् ॥ ९७

न राष्ट्रकूटान्वयकैटभारिः, प्रतापमल्लोऽस्ति पृथ्वीकमल्लः ।
गन्धोऽपि यत्तारिगतद्विपानां, गन्धद्विपेनेव न येन सेहे ॥ ९८

विना जगद्देवमिमामवस्थां, नीता निजैरेव परैरिवाहम् ।
यत्र स्थिते वैरिणि दक्षितैर्नै, द्विष्टैः प्रविष्टं पुरि गूर्जराणाम् ॥ ९९

अथाखवेदाम्बुधिरोधसा च, पुरोधसा तेन कुमारनाम्ना ।
विनाऽर्थ चैद्यक्षितिपाललक्ष्मीं, को मे करिष्यत्यरः सपत्नीम् ? ॥ १००

या मूलराजान्वयजातराजतेजोभिरासीद् विरमत्तमस्का ।
निशागमे साम्प्रतमुद्रसायां, तस्यां न दीपोऽपि नरेन्द्रपुर्याम् ॥ १०१

निरन्तरं सञ्चरतां गजानां, या डिण्डिमैरडमरा ध्वनद्भिः ।
एकाकिनी रात्रिषु गूर्जराणां, सा पूत्करोतीव शिवारवैः पूः ॥ १०२

क्रीडावतीनां नगराङ्गनानां, वस्त्रैः सदा यत्र सरोजसद्म ।
सरस्तदश्रूणि किरत्यनाथं, वातास्तपायःकणकैतवेन ॥ १०३

मुण्डेव खण्डितनिरन्तरवृक्षखण्डा, निष्कुण्डलेव दलितोन्नतदन्तुरचनग्रा ।
दूरादपास्तविषया विधवेव दैन्यमभ्येति गूर्जरधराधिपराजधानी ॥ १०४

तस्मां स्वचक्र-परचक्रहतावरोधां, निःशेषिताखिलसपत्न ! समुद्धरस्व ।
यस्मादमानवचरित्रपवित्रितेन, सम्भावनाऽत्र भवता भुवनेऽर्जिताऽसौ ॥ १०५

एकेन केशिरिपुणा विधृते यदुधैर्भारेण भङ्गुरमिवासुरमूपतीनाम् ।
वेदीर ! वीरधवलेन सुतेन भूयः, सम्भूय भुवय्युमुद्धर सम्प्रति त्वम् ॥ १०६

---

१ हताः प्र० वा० ॥ २ तु प्र० वा० ॥ ३ मुञ्जील मु० ॥ ४ राठउड पा० टि० ॥ ५ 'द वैद्य' वा० ॥ ६ 'रमत्त' मु० ॥ ७ सा फूत्क' मु० ॥ ८ तस्माद् त्वं मु० ॥ ९ तवीर ! वा० ॥

व्याहृय कृत्यमिति सा सहसा च कण्ठपीठे निवेश्य विशदामिह पुष्पमालाम् ।
क्वापि तत्र भवती सह निद्रया मे, याताऽथ भूयमिह जन्पत नै किमेतत् ? ॥ १०७

इत्थं वदन्नथ हरिप्रतिहस्तकोऽसौ, सौविस्तिकेन जगदे जगदेकवीर. ।
स्वप्नोऽयमर्थमकदर्थनया ददानो, व्याख्यानमिच्छति भवानिव नैव देव ! ॥ १०८

राजन्य ! धन्यतममन्यमहं न मन्ये, प्रस्तौरिवीरभुजवैभवतो भवत्त ।
या न स्मृमस्तुपनतानपरान् कदापि, सत् त्वामुपेत्यमिव सा वृणुते स्वयं श्री ॥ १०९

युष्माकमासस्थान्वयसम्भवाना, न श्लाघ्यते जगति केन कुलागतोऽसौ ? ।
अप्रेमरीमभवति दुग्धगिप्रवृत्तो, या सहरत्यनिरुपसतौ नु पश्चात् ॥ ११०

उच्छ्वसन्नव ध्रैरिव मन्पगये, उत्वैव सैम्मुखनुपैति न मातुलेना ।
दीनाकुरा इव दशान्तमुपैयिवासन्नेजो निजं मुकुलयन्ति च मन्दगौका ॥ १११

आर्जितमानसि गुणैर्गुणिनि स्वयंवरैर्धुता नृपश्रियमिमा सुभटोपभोग्याम् ।
सम्भिन्नमिगनदनुर्मय मञ्जुमूर्ते !, व्यादत्ते नहि यथा खदैसौ निधनाऽसौ ॥ ११२

इत्यद्भुत हरिनिगुञ्ज श्रियमर्पयति, नीया समुन्नयति भ ग्रहन पुनस्तान् ।
रत्नादर्शी उग्रपयो नयति किन्तु मस्त्रागनत्र मन्दिरारगान वगेति ॥ ११३

शिरा विविधचरितानुस्तरोऽप्युक्त, तेनाथ धीरधराणे बलवान निगुम ।
गुरुषु भूभरसुदन्त विरचा, विना मसार सचिवपु पुर्विधनेषु ॥ ११४

अथ इन्दुधन्दपरायणस्य प्रभाते, स च नृपतिगन्दं सभ समीपमेत्य ।
स च पतिवन्दिते गुर्जराणा विनिश्चकार निर्दयेन स्वयं मान्यं विभुत्व ॥ ११५

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये नरेन्द्रवंशवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



तृतीयः सर्गः ।

वस्तुपालवंशवर्णनम्

रसालङ्करणे तस्मिन्नालवालानुकारिणि । प्रांशुः प्राग्वाटवंशोऽभूत्, पुरे गूर्जरभूभुजाम् ॥ १

त्वचि साराः परे वंशाः, सदा पत्राणि बिभ्रति । क्रियासारैश्च वंशोऽयं, धत्ते पात्रपरम्पराम् ॥ २

नररत्नैर्यदुत्पन्नैरुद्भूताद्भुतकान्तिभिः । विभूषिता विशेषेण, जगतीव सरस्वती ॥ ३

मन्त्रिमण्डलमार्तण्डश्चण्डपः प्रथमः पुमान् । कुले तस्मिन्नुदेति स्म, तमसामवसानकृत् ॥ ४

चाणक्यादिव चातुर्यं, गिरमाङ्गिरसादिव । अम्भोधेरिव गाम्भीर्यं, यः शुभैकाग्रहोऽग्रहीत् ॥ ५

न च्छिद्रं क्षुद्रमप्यत्र, मन्त्रिरत्ने निवेशितम् । धात्रा केन प्रकारेण, सोऽनुस्यूतगुणः कृतः ? ॥ ६

मानी नामन्यत श्लाघ्यां, यः श्रियं सरसीरुहाम् । यैर्मनागपि न म्लानमिर्नपादावधीरितैः ॥ ७

तद्भूश्चण्डप्रसादोऽभूद्, गङ्गाडिण्डीरपाण्डुभिः । यशोभिः ककुभां येन, चक्रे श्रीखण्डमण्डनम् ॥ ८

कदाचिदपि न त्यक्ताः, पाणिपद्मगृहीतया । गेहिन्येव वदान्योऽयं, नृपव्यापारमुद्रया ॥ ९

मृदुर्वाणी मतिस्तीक्ष्णा, साधुः श्रीः कीर्तिरुज्ज्वला । वीतरागं मनो यस्य, स्फीतरागं करद्वयम् ॥ १०

यः पराभूतकर्पूरैः, कीर्तिपूरैर्निरन्तरम् । चिरं विरचयामास, राकामाकालिकीमिह ॥ ११

सोमः समुद्रतस्तस्मादुज्जगाम मनोरमः । सवित्री जातमात्रेण, येन द्यौरिव दिद्युते ॥ १२

अपूर्वः कोऽपि सोमोऽयं, कलङ्कविकलाकृतिः । न हि मारपुरस्कारं, चक्रे भावं च नो भवे ॥ १३

निदधे गुणरत्नानां, यत्र कोशः स्वयम्भुवा । तत्र श्रीसिद्धराजोऽपि, रत्नकोशं न्यवीविशत् ॥ १४

स्वं मेने येन सोमेन, पूर्णेनाभ्यर्णवर्तिना । गृहीतानन्तभोगः [12]श्रीसिद्धेशोऽधिकमीश्वरात् ॥ १५

सवित्रं बिभ्रता तेजः, सीतां च सहचारिणीम् । काकुत्स्थेनेव येनापि, न दीनातिक्रमः कृतः ॥ १६

अमेयमहिमा श्रीमानश्वराजस्ततोऽभवत् । येन दानार्द्रहस्तेन, हस्तिराजोऽप्यजीयत ॥ १७

तैर्मानिरन्तरत्यागस्थगिताथितदुःस्थितैः । [14]निर्जैरेवेन्द्रियैर्लब्धा, कामना न मनागपि ॥ १८

आनीतं न्यायतो वित्तं, व्ययितं धर्मकर्मसु । यशस्तु जगति स्तुत्यं, केवलं यस्य तिष्ठति ॥ १९

प्राकृतां रथकाचार्यां, स्मरन्ननुशयादिव । मातुर्विशेषतश्चक्रे, भक्तिं यः पुरुषोत्तमः ॥ २०

जनन्या जठरे मासानमूवास दशैव यः । हृदयाम्भोरुहे तस्य, यावज्जीवमियं पुनः ॥ २१

---

१ 'रसपत्रं' प्र० वा० ॥ २ इच्छा तेजश्च प्र० टि० ॥ ३ तमसां दुष्टानाम् प्र० टि० ॥ ४ अन्त प्र० टि० ॥ ५ चाणिक्या' वा० ॥ ६ 'रत्ने न्यवेशयत् । धात्रा(ता) के' मु० ॥ ७ तथापि प्र० टि० ॥ ८ इन-सूर्य, पाद-किरणाः, अवधीरित-अवगणित, अनस्ताभीषादं प्र० टि० ॥ ९ अकालभवाम् प्र० टि० ॥ १० मरणे कामश्च प्र० टि० ॥ ११ मार-संसारः शिवश्च प्र० टि० ॥ १२ श्रीसमिद्धः सोऽधिक' वा० । श्रीसमिद्धोऽधिक' मु० ॥ १३ सविन्या इदं सवितुरिदम् प्र० टि० ॥ १४ यस्मा' प्र० ॥ १५ निर्जैरिवे' मु० ॥ १६ 'गत स्त्र' प्र० ॥ १७ चक्रवर्ती प्र० टि० ॥ १८ यस्य प्र० ॥

सतत सचिवश्रेणिमाणिक्यस्याङ्गसङ्गिनी । कान्ता कुमारदेवीति, तस्य कान्तिरिवाभवत् ॥ २२

स्वाभाविकेन शौचेन, मान्या सुमनसामपि । प्रवाहा इव जाह्नव्यास्तया सूता सुतास्त्रय ॥ २३

मुख्य श्रीमल्लदेवाख्यो, वस्तुपालाह्वयस्तत । तेजःपालाभिध पश्चात्, त्रयी भाति त्रयीव सा ॥ २४

पुरुषाणामिमास्तेषा, परेषामिव मूर्तय । त्रिधा निर्मियमाना अप्येकैव परमार्थत ॥ २५

स्वय शुद्धेषु यत् तेषु, गुरुणा शौचशिक्षणम । घनसारपरागेण, मार्जन मौक्तिकेषु तत् ॥ २६

तेजस्य मल्लदेवेन, यश शुभ्र विभाव्य यत् । शिरैर्नै विष्टपे दष्ट, कैरव कैरवजया[1] ॥ २७

इयती मल्लदेवस्य, कौस्तुभेन विभिन्नता । जिनो हृदि यदेतस्य, जिनस्य त्वपर सदा ॥ २८

वस्तुन वस्तुपालस्य, सैव वेत्ति सरस्वती । तदीयवदनाम्भोज, या वसत्यनुवासरम् ॥ २९

स्थित पुरुषयोर्मध्ये, पूर्वजानुजयोस्तयो । मन्यते मध्यम य स्वमुत्तम त जन पुन ॥ ३०

किमस्तु वस्तुपालस्य, मन्त्रीन्दो साम्यमिन्दुना[2] । यद् दत्ते वसुधामेष, सुधामेवापर पुन ॥ ३१

वृद्धि न्यग्रोधशाखाव स प्राप्नोति यथा यथा । क्षमालङ्करण केषा नाश्रय स्यात् तथा तथा[3] ॥ ३२

षड्भिरेव गुणैर्येन काऽपि कीर्तिपटी कृता । वसुन्धरा धराऽम्भोधिसहिता पिहिता यथा ॥ ३३

गम्ये मनसि साधूना, यो वसत्यनुवासरम् । यदनुक्तोऽपि जानाति, विधत्ते च तदीप्सितम् ॥ ३४

अहङ्करोति नामान त्वङ्करोति न सद्गुरून् । य पुन प्रणनारम्भे हुङ्करोति विरोधिन ॥ ३५

दयिता ललितादेवी, यस्य सर्वाङ्गहारिणी । अर्धाङ्गहारिणी पत्यु, पार्वती हिमतीव या ॥ ३६

तस्मादमात्यजीमूतात्, मुक्तेनेऽस्मिन् सुताङ्कुर ।
जयसिंहाह्वय सोऽय बालोऽपि फलित सताम् ॥ ३७

पूर्वे सर्वेऽपि तार्यन्ते, निस्तार्यन्ते तथाऽर्थिन । एतेन यस्य पोतेन, प्रतार्यन्ते न तु प्रजा ॥ ३८

तेजःपालः पुनस्तेषु सोदरेषु लघु किल । निजप्रभुप्रसादेन, गुरुणाऽपि न लङ्घ्यते ॥ ३९

छन्द शास्त्रे श्रुताऽस्माभिर्लघुताऽपि क्वचिद् गुरो । तस्मिन् बन्धुजने दृष्टा गुरुताऽस्य लघोरपि ॥ ४०

अश्वराजात्मजावेतौ, नासत्यावमृतोपधे । सम्प्रति प्रतिरुन्धाते, सर्वमप्यातुर जगत् ॥ ४१

अमी सुमनसस्तेन, स्पर्धन्तामुद्धता कथम्[4] । सोऽपि मन्दबुद्धिना येन, जित सुमनसा गुरु ॥ ४२

अपूर्व तस्य वैदुष्य, यद् दिक्पालै स्वभूभुजा । समानैर्दशभि सार्ध, मन सन्ध्यक्षराणि ये ॥ ४३

शुभस्वभावमालोके, लोकेऽस्मिन्नेकमेव तम् । यदुक्त तत् करोत्येव, यत् कृत तन्न वक्ति य ॥ ४४

उपकृत्य कृती पुसा वित्ते तेषा न केवलम् । अपि य स्तुतिच्छाया, संचिचेन्दुर्गिनस्पृह ॥ ४५

उपकर्ता सताम यैरपकारयिता च य । हरते हि मरुत् ताप, हारयत्यपि वारिदै ॥ ४६

वाऽप्ययेवोन्नतिं नीत, श्रिया तृणसम पुमान् । क्षमा त्यजति न त्वेष गिरीशोदयन्नपि ॥ ४७

अपूर्व मन्त्रिमाणिक्य, चाणक्यमिह मन्महे । वसुधावलये येन सदानन्दोदय कृत ॥ ४८

यद्यप्यनुपमा नाम, प्रेयसी तस्य मन्त्रिण । भूपा तथापि मन्येऽहमेना मनाङ्गनामिव ॥ ४९

लावण्यसिंहनामान, सा लावण्यसर्शिना । तनय जनयामास विनयावर्जितप्रजम् ॥ ५०

---

१ शौर्येण, मा° मु° ॥ २ यत्र मु° ॥ ३ तत् मु° ॥ ४ यत् मु° ॥ ५ 'दृत्ये मु° ॥ ६ 'सचिवो दुर्ग' मु° ॥ ७ चाणिक्य' वा° ॥ ८ 'मिमम् मु° ॥

वस्तुपाल-तेजःपालयोः मन्त्रिमुद्रार्पणम्

भूमिभर्तुरथ कर्तुमिच्छतस्तस्य सत्पुरुषसङ्ग्रहं श्रिये ।
एकदा हृदयमागताविमौ, दीनशीलकरणाविवाम्बरम् ॥ ५१
तद्गुणान् निपुणया मनीषिणामग्रणीर्धिषणया विमृश्य सः ।
आजुहाव च समागतौ च तौ, कार्यसिद्धिरविलम्बिनी सताम् ॥ ५२
तत्र तौ ददृशतुः शतक्रतुप्रायमायतभुजं महीभुजम् ।
सानुजं च सचिवं स दृष्टवानर्थयुक्तमिव धर्ममग्रतः ॥ ५३
तावुपायनमुपायपण्डितौ, मण्डितौजसिकपद्धतेः पुरः ।
उद्धृणम्य चरणद्वयं मुदा, तस्य वीरतरणेः प्रणेमतुः ॥ ५४
तेन वैनतनयानुकारिणा, कर्तुमात्मकरणाधिकारिणौ ।
सप्रसादवदनेन सादरं, सोदरौ समुपवेशिताविमौ ॥ ५५
तस्य निर्दलितभूरिभूभृतः, स्वर्पतिप्रतिकृतेः कृतासनौ ।
अश्वराजतनुजौ रराजतुस्तौ सुरा-ऽसुरगुरूपमौ पुरः ॥ ५६
एतयोर्विनयनम्रमस्तकन्यस्तसम्पुटितपाणिपद्मयोः ।
निर्ममे समदशात्रुदन्तिनामङ्कुशः स कुशलानुयोजनम् ॥ ५७
नीरनीरदरवानुवादिना, नादयन्नथ दिशः स्वरेण सः ।
तौ पुनश्चरितचातकव्रतौ, वक्तुमारभत मारसन्निभः ॥ ५८

आकृतिर्गुणसमृद्धिशंसिनी, नम्रता कुलविशुद्धिसूचिका ।
वाक्क्रमः कथितशास्त्रसङ्क्रमः, संयमश्च युवयोर्वयोऽधिकः ॥ ५९
श्लाघ्यतां कुलमुपैति पैतृकं, स्यान्मनोरथतरुः फलेग्रहिः ।
उन्नमन्ति यशसा सह श्रिय, स्वामिनां च पुरुषैर्भवादृशैः ॥ ६०
यौवनेऽपि मदनान्न विक्रिया, नो धनेऽपि विनयव्यतिक्रमः ।
दुर्जनेऽपि न मनागनार्जवं, केन वामिति नवाकृतिः कृता ? ॥ ६१
आवयोस्तु पितृ-पुत्रयोर्महानाहितः क्षितिभरः पुरुदुहा ।
तद् युवां सचिवपुङ्गवाविहं, योक्तुमत्र युगपत् समुत्सहे ॥ ६२
विद्युदञ्चलचलाचलां श्रियं, सन्निवेश्य सचिवेषु साधुषु ।
सम्प्रहारभरसम्भृतश्रमाः, शेरते सुखममी क्षमाभुजः ॥ ६३
येन केन च सुधर्मकर्मणा, भूतलेऽत्र सुलभा विभूतयः ।
दुर्लभानि सुकृतानि तानि यैर्लभ्यते पुरुषरत्नमुत्तमम् ॥ ६४
मत्पितुर्भुजयुगेन सयुगादाहृतां जितयुगश्रिया श्रियम् ।
अक्षरक्षणविचक्षणौ युवां, नित्यमेधयतमिद्धया धिया ॥ ६५

१ उद्गण' प्र० ॥ २ स्वःपति वा० । 'स्वःपति' मु० ॥ ३ 'पदं, यो' मु० ॥ ४ 'चलाञ्चि' वा० मु० ॥ ५ 'केनचन धर्म' प्र० ॥ ६ व्यवहार प्र० टि० ॥

इत्युदीर्य भुजवीर्यशालिना, मुद्रिता दशनचन्द्रिकाऽमुना ।
वस्तुपालवदनारविन्दत, स्यन्दते स्म मधु वाग्मय तत ॥ ६६

देव ! सेवकजन स गण्यते, पुण्यवस्तु गुणवत्सु चाग्रणी ।
य प्रसन्नवदनाम्बुजमना, स्वामिना मधुरमेवमुच्यते ॥ ६७

सप्रसादवदनस्य भूभृतर्यत्र यत्र विलसति दृक्षय ।
तत्र तत्र शुचिता कुलीनता, दक्षता सुभगता च गच्छति ॥ ६८

जायते जलदवृन्दवृष्टिभि, शाखिना सफलता शनै शनै ।
तुष्यता क्षितिभृता नु दृष्टिभिस्तत्क्षणादपि नृणा फलोदय ॥ ६९

नास्ति तीर्थमिह पार्थिवात् पर, यन्मुखाम्बुजविलोकनादपि ।
नश्यति द्रुतमपायपातक, सम्पदेति च समाहिता सताम् ॥ ७०

जीवनाय मनुजमनामिह, भ्राम्यतामथ कदापि स प्रभु ।
त्वादृशो भवति भाग्ययोगतो, वेत्ति य सदसता यदन्तरम् ॥ ७१

किंतु विज्ञपयिताऽस्मि किञ्चन, स्वामिना तदवधार्यता हृदा ।
न्यायनिष्ठुरतरा गिर सता, श्रातुमप्यधिकृतिस्तवैव यत् ॥ ७२

सा गता शुभमयी युगत्रयी, देव ! सम्प्रति युग कलि पुन ।
सेवकेषु न कृत कृतज्ञता, नापि भूपतिषु यत्र दृश्यते ॥ ७३

ते राजान स्वर्गताश्चक्रिरे यैर्वीरैर्वैरिक्ष्मापतीना प्रबाधा ।
तेऽपि ग्रामास्तत्र सन्मन्त्रिणो ये, श्लोकास्तेषा शोधयन्ति स्म शुद्धा ॥ ७४

दृष्टिर्नेष्टा भूपताना तमोभिस्ते लोभान्धान् साम्प्रत कुर्वतेऽत्रे ।
यैर्नीयन्ते वर्त्मना तेन यत्र, भ्रश्यन्त्याशु व्याकुलास्तेऽपि तेऽपि ॥ ७५

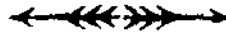
न सर्वथा कश्चन लोभवर्जितं, करोति सेवामनुवासर विभो ।
तथापि कार्य स तथा मनागिति, यत्र बाधा न यथाऽत्र बाध्यता ॥ ७६

पुरस्कृत्य न्याय खलजनमनादृत्य सहजानरीन् निर्जित्य श्रीपतिचरितमाश्रित्य च यदि ।
समुद्धर्तुं धात्रीमभिलषसि तत् सैर शिरसा, धृतो देवादेश कुशलमपरथा स्वस्ति भवते ॥ ७७

सचिववचनमेतच्चेतसा सोमदेवन निनितरैतिलकोऽयं कर्णमार्ग्य सम्यक् ।
अकृत कनकमुद्राकान्तिकिर्मीरकसार्द्र करसरसिजयुग्म मन्त्रियुग्मस्य तस्य ॥ ७८

अवनिपतिरनेन भूरिधाम्ना, सचिवयुगेन चिराद् विराजमान ।
पतगपतिरिवारिनागनाश जनयति पक्षयुगेन सयुग स ॥ ७९

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये मन्त्रप्रतिष्ठा नाम तृतीय सर्ग ॥



१ वाङ्मय वा० मु० ॥ २ 'ना फलश्रमा प्र० ॥ ३ 'रैर्वीरक्ष्मा' वा० मु० ॥ ४ 'जित वा० ॥ ५ धात्रीं समभिलषसि तच्छैर वा० ॥ ६ 'न्य कुरुक्ष्मा' मु० ॥ ७ मन्त्रिस्थापना नाम वा० । मन्त्रिस्थापनो नाम मु० ॥

चतुर्थः सर्गः ।

वस्तुपालस्य मन्त्रित्वावदाताः

श्रीवीरस्य धरोद्धारधुरीणस्योपधारणम् । चक्रतुः सचिवावेतौ, पादौ सुरगिरेरिव ॥ १
ताभ्यां कल्याणरूपाभ्यां मन्त्रिभ्यामधिकाधिकम् । नृपाखण्डलराज्यश्रीः, कुण्डलाभ्यामिव व्यभात् ॥ २
न्यायं निवेशयन्नुर्व्यां, निर्व्याजः स्वजनः सताम् । स्तम्भतीर्थं जगाम श्रीवस्तुपालो विलोकितुम् ॥ ३
स्तम्भतीर्थे स्थितस्तीर्थप्रभाव इव मूर्तिमान् । केषां मुमोष नो दोषमीप्सितानि ददौ च यः ॥ ४
तमन्यमिव सश्रीकं, समुद्रमवलोकयन् । ईर्ष्ययेव पयोभङ्गैर्भ्रूभङ्गं विदधेऽम्बुधिः ॥ ५
कोऽप्यपूर्वः समुद्रोऽयमपापः पृथिवीतले । यस्मात् प्रसरति स्वादुरसपूरा सरस्वती ॥ ६

प्रविवेश पुरे तत्र, स पश्चान्मन्त्रिसत्तमः । तस्याऽऽगमे तु पौराणां, प्रमोदः प्रथमं हृदि ॥ ७
हट्टे हट्टे पटोत्तम्भस्तोरणं च गृहे गृहे । पुरुषे पुरुषे प्रीतिः, सम्प्राप्ते तत्र मन्त्रिणि ॥ ८
धान्यैर्धन्यमिव क्षेत्रं, फलैरिव घनं वनम् । सरः पूर्णमिवाम्भोभिस्तेनाऽभूच्चारु तत् पुरम् ॥ ९

क्रूरैर्ग्रहैरिवाऽऽक्रान्तं, मुक्तमन्यैर्नियोगिभिः । प्रीणात्येष पुरं मन्त्री, नक्षत्रमिव चन्द्रमाः ॥ १०
पुरं रोगैरिव प्रस्तमपरैरधिकारिभिः । सद्वैद्य इव तन्त्रज्ञो, मन्त्री प्रतिकरोति यः ॥ ११
केनाऽप्यन्येन या चक्रे, सतां पीडाऽधिकारिणाम् । वार्यते वस्तुपालेन, सा सम्प्रत्यधिकारिणा ॥ १२

प्रत्यावृत्तिः कृतस्येव, कलेरिव गलग्रहः । बलेः पुनरिवोत्थानं, स मेने सुमनःशतैः ॥ १३
निशासु नीचसम्भोगसम्भूतधनकामना । सत्यत्र मन्त्रिमाणिक्ये, गाणिक्येनापि तत्यजे ॥ १४
सर्वत्रोच्छ्वसितं सद्भिः, खलानां म्लानमाननैः । निराकृतदुराचारं, व्यापारं तत्र तन्वति ॥ १५
सांयात्रिकजनो येन, कुर्वाणो हरणं नृणाम् । निषिद्धस्तदभूदेष, धर्मोदाहरणं भुवि ॥ १६
सृष्टा-ऽसृष्टनिषेधाय, विधायावधिवेदिकाम् । पुरेऽस्मिन् वारितस्तेन, तक्रविक्रयविप्लवः ॥ १७

धात्रा स्थानेषु भग्नेषु, ताम्यतामाश्रयः सताम् । सद्वंशः सद्गुणश्लाघ्यं, पटावास इवाभवत् ॥ १८
स्वामिना सप्रसादेन, पाणिग्रहेऽपि मुदितः । तथाऽप्युन्मुदितस्तस्य, वित्तविश्राणनक्षणे ॥ १९
स्निग्धैः सम्भाषणैरेव, यस्य द्रविणवर्षिणः । अर्थिनामुपशाम्यन्ति, दौःस्थ्यनिःश्वासवायवः ॥ २०
स्थानभ्रष्टस्य यः साधोराधारः सारवत्तया । जटाजूटः सुरस्रोतःप्रवाहस्येव शाम्भवः ॥ २१
लोकेऽस्मिन्नवमन्वाने, जाने वैराग्यमागताः । सरस्वत्यास्पदं तीर्थमिव यं शिश्रियुर्गुणाः ॥ २२

महतां वर्त्तमानानां वित्तेनोपकरोति यः । स्वर्गतानां जर्त्पूर्तकीर्त्तिनोद्धरणेन तु ॥ २३
प्रासादास्तेन देवानामुद्धृताः कारिताश्च ये । नवत्वमेव विख्यातमसङ्ख्येष्वपि तेष्वभूत् ॥ २४

१ 'रूपिभ्यां मु० ॥ २ व्यधात् मु० ॥ ३ 'जः सुमनः वा० । 'जः सुजनः प्र० ॥ ४ तद् वैद्य प्र० वा० ॥ ५ 'रिण प्र० मु० ॥ ६ सत्प्रसा' मु० ॥ ७ 'तां चियमाना' मु० ॥ ८ 'स्कीर्तिकी' वा० ॥ ९ ते प्र० वा० ॥ १० येष्व' प्र० ॥

यन्न्यून यत्र यन्नष्टं, यस्तत्र तदचीकरत् । उपात्तिरत्नमाना हि, रिक्तपूरणहेतवे ॥ २५
अकल्पयदनल्पानि, देवेभ्य काननानि य । हरनेत्राग्निनापस्य, यत्र न स्मरति स्मर ॥ २६
रम्भासम्भावितैर्यस्य, वनैर्नृपनिषेवितै । मनोज्ञसुमनोवर्गै, स्वर्गसौन्दर्यमाददे ॥ २७
सङ्गृहीतानि हारीत शुक चित्रशिखण्डिभि । धर्मशास्त्रसधर्माणि, यस्योद्यानानि रेजिरे ॥ २८
दर्शयन् सुमनोभाव, श्रीमत्तामतुल्यमयम् । काननाना स्वजन्मूना, स्वजन्मूनामिवाऽकरोत् ॥ २९
सरासि राजहंसालीशालीन्ययमचीखनत् । तेनैव तुल्यता येषा, स्यादस्तापनया तया ॥ ३०
आददाना पय पूर, य कासारेषु कासरा । विराजन्तेतरा पारावारेष्विव पयोधरा ॥ ३१
अकारयदय वापीरपापीय नियारत । सुधाया अपि माधुर्य, यज्जलैर्गल्हस्तितम् ॥ ३२
ता प्रपा कारितास्तेन, यदीय पिबता पय । तृप्यन्त्यास्यानि पान्थाना, न रूप पश्यता दृश ॥ ३३
मनार्णरतरी ब्रह्मपुरी येनात्र निर्ममे । यस्या गायन्ति सामानि, नरा नार्यस्तु तद्धन ॥ ३४
स्फुट वेधयता शुभ्रै, कीर्तिकूटै पटैरिव । वशाऽपि म्राहिता येन, द्विज धेनाम्बरत्वनम् ॥ ३५
येन पौषधशालास्ता, कारितास्तारितात्मना । मध्ये श्वेताम्बरैर्यासा, विशुद्धि सुधया बहि ॥ ३६
यस्य पौषधशालासु, यतय सवसन्ति ते । सदा येषामदाराणामात्मभूसम्भवे कुत ? ॥ ३७
ज्ञानाख्यं यस्य तच्चक्षुर्याचादेवी ददे मुदा । नित्य येनैव धर्मस्य, गति सूक्ष्मामपीक्षते ॥ ३८
अय जगति मध्यरथ, स्पष्ट सृष्टिकृता कृत । धर्मास्थानन्तदेतस्य, स्थिता सर्वेऽपि तावति ॥ ३९
नानर्च भक्तिमान् नेमौ, नेमौ शङ्कर केशवौ । जैनोऽपि य सवेदाना, दानाम्भ कुरुते करे ॥ ४०
लभते लोकत पापा, आपानन्ये नियोगिन । अधिकारमधिकारमात्य पात्यसौ पुन ॥ ४१

सिंहनराजस्य गूर्जरदेशोपरि अभियोगः

अथ गूर्जरराजराज्यलक्ष्मीं, रमणीया चरचक्षुषा निरीक्ष्य ।
पृतना द्रुतमादिदेश दूतामिव तत्सङ्ग्रहणाय दक्षिणेन्द्रः ॥ ४२
श्रुतसिंहनसैन्यसिंहनादप्रसरा गूर्जरराजराजधानी ।
हरिणीव हरिन्मुखावलोकैः, चकितान्त करणा मुहुश्चकार ॥ ४३
गृहमारभते न कोऽपि कर्तुं, कुरुते कोऽपि न सङ्ग्रह कणानाम् ।
स्थिरता वचनापि नैति चेत , परचक्रागमशङ्कया प्रजानाम् ॥ ४४
अवधीरितधान्यसञ्चयाना, बहुमान शकटेषु मानवानाम् ।
विपदामुदये हि दुर्निवारे, शरण चक्रमिदव देहभाजाम् ॥ ४५
समुपैति यथा यथा समीर, रिपुराजध्वजिनी मदात् तदानीम् ।
परत परतस्तथा तथाऽसौ, जनता जातभयोच्छ्रया प्रयाति ॥ ४६
तदवेत्य जवेन यादवेन्दोर्नेमिमागच्छदनुच्छनीरवर्गम् ।
भ्रुकुटीकुटिलं चकार कोपादथ श्रीलवणप्रसाददेवः ॥ ४७

---

१ 'दनेकानि मु० ॥ २ पयसः पा० ॥ ३ य प्रथमम् ? प्र० । अत्र प्रथमादोपरि प्र० आदर्शे पुत इति टिप्पणी कृता वर्तते ॥ ४ लोभत बा० मु० ॥ ५ 'श्रीसिंहन' प्र० । ६ 'राद् गू' प्र० ॥ ७ 'रगर्वम् मु० ॥

उपकण्ठमकुण्ठविक्रमस्य, स्फुरदुस्रप्रसरी हरिण्मयी स्रक् ।
शुशुभेऽस्य चुलुक्यभूपलक्ष्म्या, भयवश्या निहितेव बाहुवल्ली ॥ ४८

परिपन्थिवरूथिनीं प्रभूतां, स नृपस्तुच्छपरिच्छदोऽभ्यगच्छत् ।
बलिनाऽप्यरिणा रणप्रवृत्तौ, सुभटानां हि पदानि संमुखानि ॥ ४९

बलवारिधिराजगाम शत्रोरुपतापीतटमुर्वरोषतापी ।
रभसादभिधावति स्म वीरः, स महीतीरमहीनबाहुशक्तिः ॥ ५०

प्रचुरं तदरातिराजचक्रं, तदजय्यं च बलं चुलुक्यभर्तुः ।
विमृशन् बहुशोऽपि सन्दिहानो, न जनो निश्चिनुते स्थितिं गतिं वा ॥ ५१

रिपुसैन्यनिवेशभूः प्रजानां, विदिताऽभूदनिवेदिताऽपि दूतैः ।
गगनाङ्गणगाहनोल्बणैस्तज्ज्वलितग्रामसमूहधूमकूटैः ॥ ५२

भृगुकच्छमहीमहीनसत्त्वां, चरतस्तानचिरेण वृष्णिवर्गान् ।
न बहूनपि दुर्जयानजय्यः, समरेऽमन्यत वीरकेसरी सः ॥ ५३

प्रसरत्यथ मत्सरप्रबन्धे, द्रुतमेकेन रणोल्बणं कृपाणम् ।
अपरेण सुतं करेण वीरः, सहसा सयति यान्तमेष दध्रे ॥ ५४

चतुर्णां मरुभूपानां लाट-गोद्रहनृपयोश्च गूर्जरत्रोपर्यभियोगः

क्षितिपान्तरविग्रहप्रसक्तौ, पितृ-पुत्रावथ विग्रहीतुमेतौ ।
विदितावसरैश्चिराच्चतुर्भिर्मरुभूपैः सहसोपचक्रमाते ॥ ५५

उभयोरनयोश्चतुर्भिरेभिर्विगृहीतैर्विहिताऽथ साऽपि पृष्ठे ।
इयतैव बुधैर्विभावनीयं, सुभटत्वं पृथमूर्ध्नि यस्य यावत् ॥ ५६

अथ गोद्रह-लाटदेशनाथौ, मरुनाथैर्निभृतं निबद्धसन्धी ।
विधुरे परिहृत्य तत्र मित्रद्वितयं तत्कटकादुपेयतुस्तान् ॥ ५७

असतोर्बलं तयोः सतोर्वा, सबलं स्वं मनुते स्म नैष वीरः ।
जलधिर्विगतैरुपागतैः स्यान्नहि भिन्नोद्रचजलैः क्षयी चयी वा ॥ ५८

पुरतो यदि सिङ्घनस्य सैन्यं, यदि पृष्ठे मरुभूभुजश्च तौ च ।
न बभूव तयोरचिन्त्यशक्त्योर्मुखरागस्य विपर्ययस्तथाऽपि ॥ ५९

पुरतः सरतो यदुप्रवीराननुगच्छन् समरे करीव मत्तः ।
व्यथितः प्रतिपार्थिवैः स पश्चात्, सपदि व्यावृत्ते नृपः सकोपः ॥ ६०

जगति ज्वलिताखिलप्रदेशः, प्रचुरीभूतमलिम्लुचप्रचारः ।
स परस्परविग्रहो ग्रहाणामिव तेषामभवन्नरेश्वराणाम् ॥ ६१

१ 'रा हिरण्म' मु० ॥ २ क्षया, वलयस्या वा० ॥ ३ 'विरू' प्र० वा० ॥ ४ सम्मुखा' प्र० वा० ॥ ५ 'विगोधनी' मु० ॥ ६ यरक' मु० ॥ ७ 'हि नद्योघजलैः प्र० । भिन्न उदध इति एतन्नामानौ द्वौ महानदौ ॥ ८ 'व सत्तमः । रथ' वा० ॥

अवलोक्य चुलुक्यपार्थिवौ तौ, विपरीतैर्बहुभिर्नृपैः परीतौ ।
खर-शीतकराविवाम्बुवाहैर्जगतीयं मनुते स्म दुर्दिनं तत् ॥ ६२

वलितेऽपि चुलुक्यपार्थिवेऽस्मिन्, न कृतं तैर्यदुभिः पुरः प्रयाणम् ।
हरिणैरनुगम्यते न मार्गो, हरिणा तत्क्षणमाश्रितोज्झितोऽपि ॥ ६३

हरितं परिहृत्य चन्दनाद्रेरथ गन्तुं हिमभूभृतः प्रवृत्ते ।
अभवल्लवणप्रसादशूरः, प्रसरत्तीव्रतरप्रतापप्रौढः ॥ ६४

सहजा इति येषु बन्धुबुद्धिः, प्रथमाऽभूदथ तान् विकारकर्तॄन् ।
षडपि द्विषतो विमृश्य जेतुं, नृपवीरः स पुरश्चकार योगम् ॥ ६५

वस्तुपालस्य भेदनार्थं शङ्खराजेन दूतस्य प्रेषणम्

प्रसृतेऽथ महीक्षितां विरोधे, क्षयसिन्धाविव सिन्धुराजसूनुः ।
प्रणिधिं प्रणिधाय मन्त्रिणेऽस्मै, तृणवद् विश्वमपि स्मयेन पश्यन् ॥ ६६

चुलुकोद्भवभूपतेरमात्यं, भयकालेऽपि निराकुलं तमेत्य ।
प्रणिधिः प्रणिपत्य च प्रवीणो, विनयैश्छन्नमदामुवाच वाचम् ॥ ६७

सुभटैरपरैर्विमुक्तमस्त्र, समरोर्वीषु य एक एव धत्ते ।
अथवा भुवने निराश्रयाणां, शरणं किन्तु तथाविधैर्विनाऽस्तु ? ॥ ६८

दलितेऽपि दले स्थितः समित्या, यदुभिर्यो बहुभिर्वृतः कथञ्चित् ।
हृदयेषु गुणार्जितेषु तेषामपरेषामपि विश्रमं जगाम ॥ ६९

विधुतेऽपि सुतेऽत्र तत्सवित्री, न सपत्नाकृतमानसा तथाऽभूत् ।
समरे हि भयङ्करेऽपि[5] व्यक्तं, समसत्त्वेन न येन लज्जिताऽसौ ॥ ७०

अवलोकितमात्र एव गुणैर्यदुसिंहेन विमोच्य सिंहनेन ।
निदधे भुजपञ्जरे स्वयं यः, क्व लभन्ते गुणिनो हि न प्रतिष्ठाम्[8] ॥ ७१

विधुरेऽपि न मुञ्चते निजं यः, कुलधर्मं च कुलान्वयप्रदीपः ।
स यदाह मदाननेन शङ्खः, शृणु तन्मन्त्रिशिरोमणे ! स्वपथ्यम् ॥ कुलकम् ॥ ७२

विषमेऽपि कथं स कृत्यमार्गे, स्खलतु श्रीलवणप्रसादपुत्रः ? ।
प्रददाति पदे पदे प्रबुद्धः, सचिवो यस्य भवान् करावलम्बम् ॥ ७३

निपुणोऽसि गुणेषु षट्सु जाने, पुनरेषा तव धीरता कुतस्त्या[9] ।
व्यसने समुपस्थितेऽपि भर्तुर्यदङ्गं कुरुषेऽधिकारमेवम् ॥ ७४

अयि ! वेत्ति भवानपीङ्गितं यत्, पितृभुक्तिर्मम पत्तनं यदेतत् ।
स्वधनग्रहणार्थमागतोऽहं, समयज्ञोऽसि तदर्प्यतामिदं मे ॥ ७५

---

१ पुनश्च° मु० ॥ २ महीभृतां मु० ॥ ३ °यच्छिन्न° वा० ॥ ४ नैषधस्य° वा० ॥ ५ °रेऽपि स° वा० मु० ॥ ६ °पि यक्त° वा० । °पि यत्तु मु० ॥ ७ सिंहनैः° वा० ॥ ८ °तिष्ठा वा० ॥ ९ स सत्य° मु० ॥ १० °ङ्क कुरुषाधिकारमेक मु० ॥ ११ अपि मु० ॥

यदि सम्प्रतिपत्तिरस्ति चित्ते, नगरस्यास्य नियोगवासना च ।
प्रणम द्रुतमेत्य तत् प्रसन्ने, मयि दूरे न तवाधिकारमुद्रा ॥ ७६

अपरोऽपि विधास्यतेऽधिकारी, नगरे कश्चन पैतृके मयाऽस्मिन् ।
भजसे यदि मां ततः स्थिरैव, त्वयि मुद्राऽस्तु गुणाः प्रिथाः प्रभूणाम् ॥ ७७

अथ चेतसि किञ्चिदन्यथा ते, स्थितमास्ते तदपि प्रियङ्करं नः ।
यदसाव्यविरोधिसाधनाय, प्रतिभूरेष ममास्ति खड्गदण्डः ॥ ७८

अवलेपमलीकमाश्रितो यः, प्रभुमल्पार्थिनमन्यथा करोति ।
कुपितेन स तेन दण्ड्यमानः, सह जीवेन ददाति वित्तजातम् ॥ ७९

सिन्धुराजदूतं प्रति वस्तुपालस्य प्रतिवचः

अथ स व्यथितोऽपि तद्वचोभिर्न विकारं प्रकटीचकार मन्त्री ।
मलिनत्वमुपैति वाततुन्नैर्न रजोभिः सुरवाहिनीप्रवाहः ॥ ८०

जगदे जगदेकबन्धुनैवं, सचिवेनापसरद्वचाः स चारः ।
भवताऽभिहितं यदात्मभर्तुश्चरितं तन्न चमत्करोति कस्य ? ॥ ८१

तरणेरिव सिन्धुराजसूनोर्महसा दुःसहेन शुष्कदेहम् ।
दहति स्म सुखेन लक्ष्मदेवद्रुमसुच्चैरपि यादवेन्द्रदावः ॥ ८२

समरैकरतेरमुष्य सत्वस्तुतिकोलाहलकाहलानिनादैः ।
श्रुतिमार्गमुपैति मर्त्यलोके, सुभटानामभिधाऽपि नापरेषाम् ॥ ८३

विपरीतमतित्वमस्य मन्ये, यदसावर्थयते पुरं तदेतत् ।
हयसैन्यसहायतोऽपि सिंहान्नृपसिंहेन विगृह्य यद् गृहीतम् ॥ ८४

बहुभिः सह योद्धुमक्षमं मे, मनुते स्वामिनमेष तन्मृषैव ।
ननु निश्चलनिश्चयस्य पुंसस्त्रिदशा यान्ति सहायतां क्रियासु ॥ ८५

चकुपाटकनेष्टितं न दृष्टं, न च सिद्धेश्वरसन्निधानयुद्धम् ।
किमनेन मनस्विनो यदस्य, क्षितिमाकाङ्क्षति लीलयैव लब्धुम् ? ॥ ८६

तनयः पितृवित्तमर्हतीति, व्यवहारः पुरुषान्तरेषु युक्तः ।
परसम्पदपेक्षिणां नृपाणां, स कृपाणे न कृतः पुनः प्रमाणम् ॥ ८७

तदुपेहि पतिं स्वमेवमस्मद्वचसा ब्रूहि च देव ! वेत्सि सर्वम् ।
अवलेपमिमं विमुञ्च नो चेदयमस्मि स्थैमतो विचार्य कुर्याः ॥ ८८

---

१ °रोधसा° वा० मु० ॥ २ °भूरस्ति ममैष स्थ° मु० ॥ ३ °मभ्यर्थि° मु० ॥ ४ °नापि सर° मु० ॥५ °देहः वा० ॥ ६ °घायिनां परे° मु० ॥ ७ यदीत° वा० ॥ ८ सिंहनादान्नृ° वा० ॥ ९ °नु निश्चयनिश्चलस्य वा० मु० ॥ १० °स्विना यदीशक्षिति° प्र० ॥ ११ °यममुं वि° मु० ॥ १२ स्यमितो मु० ॥

श्रुत्वा वचः सचिवचक्रशतक्रतोस्तद्, भूयोऽप्यभाषत रुषा परुषाक्षरं सः ।
आः ! किं अद्यापि मदमन्दमतित्वमेवं !, देवस्य तस्य नियतं नहि वेदितासि ॥ ८९

कुर्वाणस्त्वयि शस्त्रधारणमसावस्मत्पतिर्लज्जते,
येनैकेन रणाङ्गणेऽवगणितः सेनाघनः सिङ्घनः ।
तत् ते चेतसि चेद् विचारकणिका काऽप्यस्ति तन्मुच्यतां,
मानोऽयं नयवेदिनाऽद्य भवता वैर्मेदमामुच्यताम्[1] ॥ ९०

अथ सचिवमवश्यमाह्वयाय, प्रवणमतिं मतिमानयं विदित्वा ।
पवन इव वनोन्मुखं कृशानुं, विभुमभियोगनयायाऽभ्यगच्छत् ॥ ९१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये दूतसमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



१ वैर्मेदमा° वा० मु० ॥

सिन्धुराजेन साकं गूर्जरेश्वरस्य संग्रामः

कथितारिविचारेण, चारेण प्रेरितस्ततः । सिन्धुराजात्मजः सिन्धुर्वायुनेवोदजृम्भत ॥ १
कुपितः करवालेन, सिन्धुराजाङ्गभूर्बभौ । कम्पान्तविप्लुतः शम्भुः, कृतान्तेनेव सङ्गतः ॥ २
भृकुटीघटना भाले, तस्य भाति स्म भीषणा । त्र्यक्षचक्षुर्यया जिग्ये, युगान्तोद्भ्रान्तपावकम् ॥ ३
रुषा स्मितमुखः शङ्खः, शङ्खपाणिसमच्छविः । नाभवद् भीतये कस्य सितविद्युदिवाम्बुदः ? ॥ ४
स प्रतस्थे हयोद्धूतैः परागपटलैर्घनैः । प्रावृषं राजहंसानामकाले कल्पयन्निव ॥ ५
केकिपत्रमयच्छत्रच्छन्ना तस्य पताकिनी । जङ्गमोद्यानलेखेव, दोःस्थिताया जयश्रियः ॥ ६
झटित्यागत्य साटोपो, वटकूपसरस्तटे । व्याचष्ट पटहोद्घोषैर्द्विषामेष स्वमागतम् ॥ ७

निस्वाननिस्वनानस्य, स्वकर्णाभ्यर्णमागतान् । उदस्तभृकुटीभङ्ग्या, मन्त्री प्रत्युदगादिव ॥ ८
मन्त्री यद्यपि गाम्भीर्याद्, भावं नाऽऽविश्चकार तम् । तथाप्येष कृतोत्थानैर्व्यक्तीभूतः शिरोरुहैः ॥ ९
सन्नद्धसैनिकः शङ्खो, भिन्नशङ्ख इव द्विपः । सङ्गरावेशदुर्वारः, सञ्चचार शनैः शनैः ॥ १०
[आविष्ट इव राधेयवधोद्यमेन किरीटिना । स तदा सचिवश्चापमामम र्श मुहुर्मुहुः ॥]
स चौलुक्यनृपामात्यः, सञ्चरत्यरिसञ्चये । सैन्यमारचयामास, त्रासमुक्तेन चेतसा ॥ ११
चन्दना-ऽगुरु-कर्पूर-कस्तूरीकुसुमस्रजः । स्वःस्त्रीसम्भोगमिच्छद्भिरिव धीरैर्विदध्रिरे ॥ १२
सन्नाहः सङ्गरारम्भसम्भवात्सत्त्वसम्पदः । उच्छ्वसत्यामिमामात्यस्य, न मात्यस्य तनौ तदा ॥ १३
दक्षिणेनाङ्घ्रिणा क्षोणिक्षोदनाज्जयशंसिनम् । आरुरोह जवादश्वमश्वराजाङ्गसम्भवः ॥ १४
श्रीवीरनृपमुद्रां यः, सदा धारयते करे । वीरशूद्रकमुद्राऽपि, धृता तेन तदा हृदि ॥ १५
भटा भुवनपालाद्या, यद्यप्यग्रे तदाऽभवन् । तथापि स पुरस्तेषां पौरैः शूरतया मतः ॥ १६
अग्रे शङ्खचमूचक्रं, मध्ये प्रहरणाङ्गणम् । पारेरत्नाकरं वीरशिरोरत्नमसौ स्थितः ॥ १७
समासन्नेऽपि सङ्ग्रामे, शौर्योद्भेदं न भाषितैः । स चक्रे सचिवोत्तंसः, क्रियासारा हि तादृशाः ॥ १८
स्थितं सङ्खचमुखे शङ्खस्तं वीक्ष्य विकसन्मुखम् । पाणौ रणरसोत्तालः, करवालमलालयत् ॥ १९
स्थितेऽत्र सम्मुखे शङ्खः, प्रवेष्टुं नाशकत् पुरीम् । रोहिणीं रोषरौद्रोऽपि[6], यथा दशरथे शनिः ॥ २०
चलन्मन्त्रिबलोत्क्षिप्तः, क्षोणिरेणुगणोऽनणुः । उदैक्ष्यत प्रतापाग्नेर्धूमराशिरिवोत्थितः ॥ २१
धूलिध्वान्तोदये तस्मिन्, मुखोद्द्योतेन मन्त्रिणः । प्रतापः प्रकटीचक्रे, श्रीवीरधवलप्रभोः ॥ २२
प्रभूतमपि तत् सैन्यं, क्षोभायाभूत मन्त्रिणः । तेऽल्पेऽपि बहवो येषां, रणारम्भे स्थितं मनः ॥ २३
स्थितेन तेन धीरेण, कर्तुमद्वैतमात्मनः । गोष्ठीसमः समित्स्थां स, स्याद्वादी सचिवो यदि ॥ २४

---

१ केतुप॰ मु० ॥ २ उदप्तभृ॰ मु० ॥ ३ पद्यमिदमधिकं वर्तते प्र० आदर्शे ॥ ४ °त्या ममा° मु० ॥ ५ क्षोणीक्षो° प्र० ॥ ६ °पि, व्यथादशरथो मु० ॥ ७ क्षोणीरेणुगणो ननु मु० ॥ ८ °त्यां यः, स्या° मु० ॥

वाद्यैर्योऽत्र सम्भेरे, स कोऽपि तुमुलोऽभवत् । यस्याग्रे मद्दलानिनि, सामुद्रोऽपि महाध्वनि ॥ २५
अवाश्रितानि चापानि, भ्रुवोर्युग्ममुदञ्चितम् । सुभटैः कोपसाटोपैः, सैनयोरुभयोरपि ॥ २६
काण्डाना सह कोदण्डगुणैः सधिरजायत । तथा वीरप्रकाण्डाना, विग्रहस्तु परस्परम् ॥ २७
कर्णे लग्नद्विरन्येषामन्येषा जीवितव्ययम् । दुर्वाणैरिदिते बाणै, स्पष्ट दुर्जनचेष्टितम् ॥ २८
तनाऽऽहवमहातार्थे विशिखैर्गुणनिर्गतैः । भित्त्वा विकर्तन चक्रे, परस्मिन् पुरुष लय ॥ २९
विहाय शरधि वेगाचापमापु शिलीमुखा । चिह्नमेतत् सपक्षाणा, विधुरे यत् पुर स्थिति ॥ ३०
वक्षो निक्षिप्य वैपक्ष, पत्रिण पततो गता । न चिर निर्गुणैर्लक्ष्या, धीमता हैयवस्थिति ॥ ३१
खड्गिन खड्गिभि कुन्तपाणय कुन्तपाणिभि । योधा योधैर्हयारूढा, हयारूढैश्च सङ्गता ॥ ३२
मन्त्रीशकरससगात्सिव दानार्थमुद्यत । असिरर्थान् कोश, बद्धमुष्टिरपि क्षणात् ॥ ३३
वाराणा पाणि पादाब्जै, पूजितेवाऽऽहवनिनि । दत्तार्थेव च दर्भाभकेशमिश्रै गिर फलै ॥ ३४
अहिसाव्रतभङ्गेन, का स्यात् तस्यात्र वाच्यता ? । पुरुषव्रतनिर्वाहो, येन तादृक् कृतस्तदा ॥ ३५
अहिसामङ्गसम्भूता, मन्त्री मार्ष्टु मन खिदम् । चक्रे दिव्यमिव स्नान, स शूर शरवृष्टिभि ॥ ३६
प्रभुप्रोत्साहन प्राप्य, मागतोत्तेजन पुर । विक्रान्ताना विशाम, जात विक्रमदृढये ॥ ३७
उद्दिश्यापि द्विषा मुक्तैर्न मन्त्री बिभिदे शरै । अदृष्ट कोऽपि शिष्टाना, वद्धकक्षो हि रक्षणे ॥ ३८
सुभटासृक्सरित्पूर पुरस्ताद् दुस्तरो यदि । तथापि न विशश्राम, मन्त्री शत्रूनभि व्रजन् ॥ ३९
विभाव्य तमसम्भाव्यमत्यष्टम्भे रणे रिपो । स्वचमूचरसंहारमारभ्य च परै पुर ॥ ४०
वीर सङ्ग्रामसिंहोऽथ सङ्ग्ये शङ्खापराह्वय । आविर्भावितपातुर्यैर्निजसरम्भसौरभम् ॥ ४१
युग्मम् ॥

अपि भ्रूपल्लवोल्लास, परैर्यस्य सुदु सह । तस्य सङ्ग्रामसिंहस्य, खड्गोल्लास सहेत क ? ॥ ४२
तमैनतरुमिवाऽऽयातमनपेक्षितजीवित । भटो भुवनपालाख्य, शङ्खे प्रत्यभिजग्मिवान् ॥ ४३
सखा शङ्खस्य सामन्तः, सना सीमन्तयन्नर । बलाद् गुरुकुलोत्तममभ्ययुङ्क्त तमन्तरा ॥ ४४
शाखे शखेषु भग्नेषु तयोरप्रतिमल्लयो । मल्लयोरिव सञ्जज्ञे कचाकेशि भुजाभुजि ॥ ४५
नियति प्रेक्षमाणाभिरप्सरोभिर्युधि तयो । बहु मन स्वकायाना चक्षुषामनिमेषता ॥ ४६
सामन्तमन्तरस्यान्त, स नीत्वा सचर पुन । सम सङ्ग्रामसिंहेन, सङ्ग्राम कर्तुमभ्यगात् ॥ ४७
शङ्खेन खड्गघातैस्तैः, खण्डं खण्ड हृत वपु । सङ्ग्ये भुवनपालस्य, पौरुष न तु खण्डितम् ॥ ४८
स वीरो मन्त्रिवीरस्य, शङ्खासिच्यस्तनस्त्रक । तस्य प्रभुप्रसादस्य, प्राणैरनृणोऽभवत् ॥ ४९
श्रुत्वा भुवनपालस्य, निधन मृत्युमूर्धनि । म त्री तेनैव वैरेण, रणाय प्रवणोऽभिकम् ॥ ५०
प्रिय विक्रामता केतुमसुभि सुलभ यत । श्रुतासि प्राविशद वीरो वीरमः समराङ्गणम् ॥ ५१
शङ्खपत्तिर्जयन्तश्च, मन्त्रिपत्तिश्च वीरमः । उभौ सम्मुखमा यातौ, सविवादौ जयश्रिये ॥ ५२
वैरिणामपि वीरण, रणान्तर्व्यथितात्मना । याचि चाचिगदेवेन, स्वगात्रस्तुतिगर्हिता ॥ ५३

१ 'तुमलो' प्र० वा० ॥ २ 'हृदयस्थिति' प्र० ॥ ३ 'रसद्वार' वा० ॥ ४ 'मद्धमिवमाया' सु० ॥ ५ 'ङ्गपातै' सु० ॥ ६ 'रुच्छ्राव' प्र० वा० ॥ ७ 'शम्भू समा या' सु० ॥

स्थित्वा विपथमानेन, भग्नेऽपि स्वचमूजने । पदे पदे कृत. स्तोम', सोमसिंहेन सङ्गरे ॥ ५४
स्वामिशत्रुमहत्वाऽपि, मृतोऽस्मीति ह्रिया किल। विजयेन तथा यातं, नेहाऽऽयातं यथा पुनः॥ ५५
क्ष्मातलक्षेपशुद्ध्येव, शङ्खेन दृढमाहत' । भटो भुवनसिंहस्तु, सपदि त्रिदिवं गतः ॥ ५६
प्राणेभ्योऽपि प्रियं शस्त्रं, क्षत्राणामिति निश्चयः । तथाऽभ्युदयसिंहेन, त्यक्तास्ते नोज्झितं तु तत् ॥ ५७
स्वखड्गखण्डितैर्वीरशिरोभिर्विषमीकृते । पेते विक्रमसिंहेन, क्रोधान्धेन मृधाध्वनि ॥ ५८
विम्ब्येमः कुलसिंहेन..........दर्शनात् । चक्रा च विस्फुरत्कुन्ते, युद्धे वै कुण्ठबुद्धिना ॥ [1]५९
भित्त्वा भल्लीभिरङ्गेभ्यो, निर्गताननपङ्क्तिभिः । उद्दलैन् शुशुभे तैत्र, सोऽयं द्रुम इवोद्दलः ॥ ६०

पश्यतः सचिवं धीरं, तथैव स्थितमग्रतः । शङ्खस्यापि चमत्कारः, प्रससार तदा हृदि ॥ ६१
विकारवर्जितं वीक्ष्य, साक्षात् तं पुरुषं परम् । प्रबुद्धमिव शङ्खेन, विरमत्कोपसम्पदा ॥ ६२

चौलुक्यचन्द्रसचिवेन्द्रमवार्यशक्तिं, मत्वा स्थित स्थगयताऽथ रजोभिराशाः ।
आकम्पितप्रचुरपत्रनृपांह्रिपेण, शङ्खेन यातमपसृत्य महाबलेन ॥ ६३

मन्त्रीश्वरोऽयमनुभूतभटोपमर्दं, सौवर्णपिण्ड इव सोढहुताशतापः ।
आनन्दकन्दलितबाष्पविलोचनेन, लोकेन पूजितमतीव बभाज तेज. ॥ ६४

सङ्ग्रामसिंहं स महानियोगी, योगी यथा योगबलेन कालम् ।
संहर्तुमायान्तमतीय चक्रे, कुशाग्रबुद्धिः कुशलं पुरस्य ॥ ६५

संवीक्ष्य वीररसरोपितरोमराजिराजिक्षितिं क्षतभटामिषगर्द्धिगृध्राम् ।
मन्त्री न्यवर्तत तत. प्रेमदाश्रुपूतैः, मूर्तैः पुरः प्रतिपदोदितदोर्विभूतिः ॥ ६६

सन्धाय बन्धुनताजनितोपरोधाद्, दूरे विरुद्धहृदयोऽपि समं नृपस्तैः ।
पुत्रेण तेन सह दुःसहपौरुषेण, सोऽथाऽऽससाद नगरीं स्वरणमसादः ॥ ६७

प्रतिनृपतिभिर्भग्नोत्साहैर्निमग्नमिव क्वचित्,
स च नरपतिर्वीरस्तीरं जगाम मृधाम्बुधेः ।
दिशि दिशि यशःस्तोमान् सोमान्वयी समचारय-
च्चतुरकुरलीचारोव्योऽयं प्रियङ्करणैर्गुणैः ॥ ६८

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये युद्धवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



१ विमम्यः मु० ॥ २ प्र० आदर्शे पदस्यास्य स्थानं रिक्तं वर्तते ॥ ३ 'रङ्गिभ्यो मा० मु० ॥ ४ 'न् सो शुमे मा० ॥ ५ तत्रेशोऽयं मा० मु० ॥ ६ 'यं धीरं मा० मु० ॥ ७ यानम' मा० मु० ॥ ८ 'पर्मर्दिमग्रधा मा० । 'पमार्धगृध्नाम् मु० ॥ ९ प्रमदोपपूतैः मा० । प्रमदोपहूतैः मु० ॥ १० 'धाद्, धीरैर्विर' मु० ॥ ११ 'न स्यार्या स' मा० मु० ॥ १२ चतुरतुरली' मु० ॥ १३ 'क्यो-ऽसौ प्रि' प्र० ॥

षष्ठः सर्गः ।

श्रीवस्तुपालेन बलान्निरस्ता, ता दुस्तरामापदमाकलय्य ।
महोत्सवानामकृत प्रवृत्तिं, वीनोपसर्गं पुरवासिवर्ग ॥ १
गृहे गृहे धातुरसानुलेपा, समन्ततः स्वस्तिकपङ्क्तिमन्त ।
विरेजिरे तूर्यरवानुकूला, कुलाङ्गनामङ्गलगीतयश्च ॥ २
बभूव देवेषु विशेषपूजा, राजन्यमार्गेषु विशेषशोभा ।
विशेषहर्षः पुरपूरुषेषु, विशेषवेषश्च वधूजनेषु ॥ ३
येषा निमेषार्द्धमपि क्षपायामायान्न निद्रा रिपुविद्रवेण ।
सुस्थाकृताना सचिवोत्तमेन, तेषा च हर्षान्तरितेयमासीत् ॥ ४
पुरप्रजाना प्रमदामृतेन, तनातिमात्र शिशिराकृतानाम् ।
निःशेषिताशेषसर समृद्धिर्ग्रीष्मो न भीष्मोऽप्यभवद् भयाय ॥ ५
शिरीषपुष्पप्रचयच्छलेन, शुचिर्दधानो हृदय मदीय ।
आषाढवान् वाढमपास्तकाम, कर्मन्दिरूपत्वमुपाजगाम ॥ ६
आमायमालोक्य चुलुक्यभर्तुः, कर्तुं स्थित शस्त्रभृतो निरस्तान् ।
मन्ये मनोभूरपि मन्दमन्द, चापक्रियाचापलमाचचार ॥ ७
दिङ्मण्डली पाटलिपुष्पगन्धसम्बन्धसौमेपमरुन्मिषेण ।
शान्तोपतापा सचिवेन तेन, सन्तोषत श्वासमिव व्यमुञ्चत् ॥ ८
अस्मान् सुखेनोत्तरतु भ्रमन्ता, कीर्तिस्तदायेति कृशास्तटिन्य ।
बभूवुरासामसदेतदन्त, सा हि क्षमा सागरलङ्घनेऽपि ॥ ९
प्रतापिन पल्लवितप्रताप, शुचि शुचित्वाधिगतप्रसिद्धे ।
कविप्रियोऽसौ प्रथयाञ्चकार, निन्दा निदाघस्य जडप्रियस्य ॥ १०
पीयूषबिन्दुप्रसव स्रवन्ती गुणावलिर्यस्य गलन्तिकेव ।
स्थितोपरिष्टादपि विष्टपस्य प्रीतिं प्रतप्तस्य तदा ददाति ॥ ११
ऋतुर्दिगन्ताक्रमणोद्यतस्य नयत्रय बुद्धिमिनस्य तेज ।
तेनाभविष्यत् सचिवेन तुल्य, प्रजोपताप यदि नाकरिष्यत् ॥ १२
सशोषिनाशापनदे निदाघे, मन्त्रावगदृष्टि क्रमशोऽभिरामा ।
तृष्णापहार न चकार कस्य, प्रपेव सन्मार्गमुपागतस्य ॥ १३
पुण्ड्रेभ्यः क्षीणरसा सरस्य शुष्का निरुष्काश्च गवा समूहा ।
चूतद्रुमा वा सचिवोत्तमो वा, तदाऽर्थिसार्थं सफलीचकार ॥ १४

---

१ स्वरयो अ० ॥ २ प्रदीप मु० ॥ ३ जल्पि° वा० ॥ ४ चतु° मु० ॥

स्वरक्षितस्याथ पुरस्य तस्य, वैशेषिकीं वीक्षितुमेष शोभाम् ।
इष्टां नमस्कर्तुमनाश्च देवीं, श्रीवस्तुपालः सचिवश्चचाल ॥ १५
प्रसर्पतः प्रोषितगर्वभावात्, परिच्छदो यद्यपि तस्य तुच्छः ।
स्त्रीभिः कृताः प्रेक्षणकाङ्क्षिणीभिस्तो सङ्कटा राजपथास्तथापि ॥ १६
तं राजवीथ्यामथ सञ्चरन्तमालोकयन्त्यः पुरलोककान्ताः ।
दातेति पातेति जैत्रीत्यर्यति, क्षमीति वाग्मीति भृशं शशंसुः ॥ १७
मनोरमाकारममात्यमेतमिवोपगन्तुं हृदयानि तासाम् ।
चक्रुः पुरस्तादुपढौकनाय, फलद्वयं चारुकुचद्वयेन ॥ १८
तमन्तिके यान्तमवेत्य बन्दिशब्दैरथ द्रष्टुमगारगर्भात् ।
द्रुतं प्रयान्ती रसनानिनादैराकारयत् काऽपि सखीरिवान्याः ॥ १९
जवेन यान्त्यास्तदवेक्षणाय, कस्याश्चिदम्भोजनिभेक्षणायाः ।
काञ्ची सखीभिर्विधृता गलन्ती, नितम्बतो न स्थिरता तु चित्तात् ॥ २०
तदा तदालोकनलोलदृष्टिः, संवृण्वती स्वाङ्गकमंशुकेन ।
हृत्कोटरान्तर्निहितस्फुलिङ्गमनङ्गमन्या प्रकटीचकार ॥ २१
तेनाङ्गना प्रत्यवलोकिताऽन्या, त्रपातिभारेण भृशं नमन्ती ।
रराज कन्दर्पकिरातमुक्तसमापतन्मार्गणविद्धिनीव ॥ २२
परा स्मरावेशनिवेशिताश्रुः, प्रयुक्तनेत्रद्वितयाञ्जनाऽपि ।
सुधानिधानं सचिवप्रधानं, नालोकितुं सम्यगलम्भभूव ॥ २३
न पुष्पचापादपरोऽस्ति चापी, यस्मादमात्यप्रणयोन्मुखीनाम् ।
न कञ्चुके किञ्चन वेधचिह्नं, भिन्नं मनस्तेन घनस्तनीनाम् ॥ २४
लज्जावती तं प्रति काऽपि बाला, जालान्तरालेन दृशं मुमोच ।
इषुर्यथाऽजीयत वप्रमारमार्गागतः कामचमूचरस्य ॥ २५
तद्दर्शिनीनां हृदि सुन्दरीणां, मनोभवद्माधवकेलिसौधे ।
प्रभूतदुर्वारपरिच्छदोऽपि, लेभे प्रवेशं सचिवेन्दुरेकः ॥ २६
मन्त्रीशमालोक्य सुलोचनानां, स्वभावलोलान्यपि लोचनानि ।
नान्यत्र कुत्रापि गतिं वितेनुर्गुणैस्तदीयैरिव मन्दितानि ॥ २७
श्रीसङ्गमस्युत्सुकया कयाचिद्, देहैकदेशो निहितं ततोऽपि ।
धर्माम्भसा धृष्टममात्यदृष्टाविद्यासिन्धाऽपि जडादपैति ॥ २८
समीपभाजमपि तत्र मन्त्रिमणौ दधाने सुमनःसमृद्धिम् ।
रोमोद्गैमोचनवमञ्जरिश्रीर्माकन्दमाकेव परा व्यराजत् ॥ २९

१ 'श्री नयी' मु० ॥ २ 'याती बा०' ॥ ३ 'जयन्दिनी' बा० ॥ ४ 'न्तरेण[स्व]ह' बा० ॥
५ 'गाहतः बा०' ॥ ६ 'घ बन्दि' मु० ॥ ७ 'मोचमो' बा० मु० ॥

उद्दामकामक्षितिपाज्ञयेव, क्रियान्तराण्यर्द्धकृतानि मुक्त्वा ।
क्षीणा गण श्रीकरणप्रधानममुं समालोकत सावधान ॥ ३०

खिन्नाऽध्वनि श्रोणिभरेण तावदेथ व्रजन्त सचिव विलोक्य ।
काऽपि प्रयातु पदमप्यशक्ता, सहामुना स्वं प्रजिघाय चेत ॥ ३१

गृहे शुभे सत्यममात्यगम्भुर्दृष्ट स दृष्ट्या परिपूर्णयैव ।
पुराङ्गनानामनुरागिणीना नत्रत्रिभागेन निभालितो यत् ॥ ३२

तत्कालमुन्मीलितमानकेतु वगातुराणा पुरसुन्दरीणाम् ॥
अदत्त चित्त न स दान्तचित्तस्तद्धर्मपत्न्या प्रथम हि दत्तम् ॥ ३३

रेमे न रम्यऽपि वधूजनेऽत्र नत्रद्वय मन्त्रिमतल्लिकाया ।
न तादृशास्तादृशसंयमेषु, प्रलोभनाय प्रभवन्ति भावा ॥ ३४

अथाऽऽगिव सैप नतेन मूर्ध्ना गृह्णन् वितीर्णा कुसुमाञ्जलिकाभि ।
विभूषितस्तम्भपुरोपशान्यामेकल्लवारा प्रददर्श देवीम् ॥ ३५

ता सप्तलोकप्रणता प्रणम्तु, जगाम दूरे स दुरापकीर्ति ।
न वेत्ति विद्वानपि सरस्वतीं, वाणीस्वरूपेण निज मुखाब्जे ॥ ३६

दुग्धेन दध्ना मधुना घृतेन, स्वच्छेन तोयेन च शुद्धमूर्तिम् ॥
आनर्च देवी सचिव प्रसून-कर्पूर-कृष्णागुरु-चन्दनाद्यै ॥ ३७

चकार देवीमदनारविन्दे, स दन्तपङ्क्ति घनसारखण्डै ।
हर्षं वहन्ती हृदि सप्रकम्पं, साक्षात् सहासेव बभौ यया सा ॥ ३८

नैवेद्यवृन्दैरनवद्यवृत्ते, शिष्टानुकूलैश्च दुकूलकूटै ।
धूपैश्च भूपसभानुरूप, प्रसादयामास दयाश्रयस्ताम् ॥ ३९

नुत्या च नत्या च विशेषवत्या, देवीं समानीय मुद स मानी ।
श्रीवीरभूपालकृपाणदण्ड, स्थिति ययाचे हृदि च स्वकीये ॥ ४०

अथोष्मणि ग्रीष्मसमुत्थितेऽन्तर्देह स्मरात्त दलित दहमाजाम् ।
शङ्के समप्रोऽपि रस सनाङ्क, स्वदाम्बुदम्भेन बहिर्बभूव ॥ ४१

खण्डद्युतौ मण्डयति द्युमध्य मध्यंदिनेऽदीपितनीमिदले ।
समं स मन्त्री गुणिना गणेन क्रीडावनं प्राप मनोनिवृत्ति ॥ ४२

मन्त्री तदासाद्य वन ननन्द, ग्रीष्म मनो शोषयितु स्थित यत् ।
भ्रमद्दर्गासङ्घटिताग्धद्वनाद्‌कारगाम्भै प्रतिगर्जतीव ॥ ४३

दीर्घैर्निदाघस्य दिनैर्मनोगुल्म धसिदिर्भजति स्म सम्यक् ।
वनस्य तस्यातिपत्रद्रुमस्य, छायातमी तागिना प्रसूते ॥ ४४

१ 'वरा प्र' मु० ॥ २ 'ग्रेयेव मु० ॥ ३ 'न विभाविता वा० मु० ॥ ४ 'दन्त्या प्र' वा० ॥
५ 'लकामिनीभि प्र० ॥ ६ द्यास्येव वा० मु० ॥ ७ 'ष्कालि वा० ॥

अमात्यमत्यर्थमपास्तदौस्थ्यं, पिकाङ्गनाकूजितकैतवेन ।
उल्लासिमल्लीमुकुलाग्रदंत्यः, सत्यं स्तुवन्ति स्म वनाधिदेव्यः ॥ ४५
हिमासहोऽथ समयस्तमिस्रहिंस्रः सहस्रांशुरिमौ समेतौ ।
मत्वेव ते भीति-रती प्रविष्टे, छायाविशिष्टं वनदुर्गमेतत् ॥ ४६
लीलावनेऽस्मिन् नवमेघलीलामरन्दबिन्दुप्रकरं किरन्तः ।
विनाऽपि वर्षासमयेन हर्षं, शिखण्डिनां ताण्डवयन्ति वृक्षाः ॥ ४७
स एव घर्मांशुकरानुषङ्गादङ्गानि पुंसां पवनो दुनोति ।
धिनोति सद्वृक्षवनोपसेवी, सङ्गः कुलीनैरत एव युक्तः ॥ ४८
प्रकम्पितायां क्षितिकम्पवृक्षो, द्राक्षालतामण्डपवेदिकायाम् ।
कृतोपवेशः स चकार गोष्ठीमनिष्ठुरोक्तिप्रसरैः कवीन्द्रैः ॥ ४९
केचित् कुलं भीतिनिराकुलस्य, कृतावदानस्य परे च दानम् ।
मान्यन्त्वमन्ये विनिवृत्तमन्योर्व्याचख्युराख्येयगुणस्य तस्य ॥ ५०
कवीन्द्रशैलेन्द्रविनिर्गतानां, सरस्वतीनां प्रसृतान् प्रवाहान् ।
आरुह्य भूमण्डलमासमुद्रमियर्ति मन्त्रीश्वरकीर्तिहंसी ॥ ५१
कवीश्वराणां शृणुते स्म वाणीं, कर्णद्वयं कर्णसमस्य तस्य ।
सोऽपि प्रमोदं हृदयेषु तेषामुदारपाणी रचयाञ्चकार ॥ ५२
ददौ स्म तेभ्यः सचिवः कविभ्यः, प्रभूतमभ्युद्गतकीर्तिरर्थम् ।
आदत्त चिद्रूपतया निगूढमप्यर्थलेशं तु तदुक्तसूक्तात् ॥ ५३
मनीषिणां मानसमन्दिरेषु, श्रीमानमात्यो निवसन्नजस्रम् ।
तेभ्यः स कल्पं वितरत्यगण्यहिरण्यविश्राणनकैतवेन ॥ ५४
तस्मिन् वने सत्कविवक्त्रयन्त्रविनिर्गतेन श्रवणामृतेन ।
संसिच्यमानः सचिवः प्रधानमहाय मध्याह्नमयं निनाय ॥ ५५
आरामायामशिशिरधाम्नि पश्चिमायामायाते सुकृतवतामपश्चिमोऽसौ ।
तान् कृत्वा धनकनकैः कवीन् कृतार्थान्नावासं स्वमभि चचाल वस्तुपालः ॥ ५६

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये पुरप्रमोदवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



१ 'दन्त्यः मा० मु० ॥ २ तदीयद' मु० ॥ ३ 'मोदो नाम प्र० ॥

सप्तमः सर्गः ।

अथोदयति निर्दोषे, सचिवेन्दौ नवे रवौ । कोकः कोकनदानन्दि, मन्दिमानमगान्महः ॥ १
गम्यः सोऽपि जगच्चक्षुश्चक्षुषा समपद्यत । क्व कालवलनेनात्र, निस्तेजा नहि जायते? ॥ २
लौहित्यं विद्रुमालीषु, द्रुमालीपल्लवेषु च । अधिकं निदधे ब्रध्नः, किरणैः कुङ्कुमारुणैः ॥ ३
शुशुभे दिक्षु सर्वासु, प्रज्वलत्तपनातपः । गिरस्थरविरस्ताद्रिः, पञ्चाग्निव्रतवानिव ॥ ४
वियोगव्यथया वीक्ष्य, साक्रन्दां चक्रकामिनीम् । प्रम्लाना सहसवासस्नेहेनेव सरोजिनी ॥ ५
मित्रेऽस्तमागते दुःखादब्जैः प्राणान् जिहासुभिः । अलिश्यामशिलाव्याजादारोपिता हृदि ॥ ६
न मित्रमस्तरणोऽपि, क्षणमभ्यासवासरः । भवत्यव्यभिचार्येव, सङ्गतं गतदोषयोः ॥ ७
प्रतापः प्राप मन्दत्वं, वारुणीसेवया रवेः । भवेत् प्रभावभङ्गाय, महतोऽपि हि दुष्कृतम् ॥ ८
निश्चला कस्य वाऽयस्य, भुवने श्रीर्भविष्यति? । आसीद् वसुविहीनोऽसौ, यदह्नामपि नायकः ॥ ९
अपि तादृशमस्ताद्रिर्दिनेशं निरकाशयत् । चिरं न ह्याश्रयः क्वापि, प्राप्यते दिवसात्यये ॥ १०
कुलायमाकुलाः सर्वे, पक्षिणस्तत्क्षणादगुः । कस्यत्र यथवा परस्य, स या सवितुरापदि? ॥ ११
वनान्ताद् वलमानेन, कुलेनोद्गमितैर्गवाम् । पांसुभिर्मांसलीभूतं, युतोऽप्याविरभूत् तमः ॥ १२
समन्ततोऽपि काष्ठानां, प्लुष्टानां चित्रभानुना । धूमेनेव तमिस्रेण, प्रसस्रे गगनाङ्गणे ॥ १३
मुक्त्वा निःश्रीकमम्भोजं मराली न गताऽन्यतः । भ्रमराली त्वगाद् वेगादिदं सदसदन्तरम् ॥ १४
त्रैलोक्यदीपके देवे, लोकान्तरमुपेयुषि । तमस्तान्तमभूद् विश्वं, क्व सुखी महदापदि? ॥ १५
गते भानौ स्थिते ध्वान्ते, पद्मिन्या साधु मीलितम् । दुरीक्षा महतामापदसतामुन्नतिश्च यत् ॥ १६
स्थित्वाऽथ प्रस्थिता सन्ध्या, व्रजद्राजिव्रजानुगा । आक्रामत परं लोकं, रवेः पश्चाद्वधूरिव ॥ १७
ससन्ध्यावासरं सूर्ये, मत्वा देशान्तरं गतम् । जायाऽनुजान्विते राममिव म्लानमभूज्जगत् ॥ १८
क्व गतः सविता? ध्वान्तमेतदभ्यागतं कुतः? । एवं सविस्मयेव द्यौः, स्फारतारमवैक्षत ॥ १९
दीपकौ अपि दीप्यन्तां, स्फुरन्तु तिमिराण्यपि । तद्गतं हि सजातीयविजातीयासहं महः ॥ २०
वस्तु सृष्टिर्विचित्रेयं, यस्मात् सङ्केतवर्त्मना । प्रियानभिसरन्तीनां, प्रकाशकमभूत् तमः ॥ २१
प्रदोषानन्तरं चन्द्रोदयादर्वाग् मृगीदृशाम् । मुहूर्तमभिसाराय, मारमौहूर्तिकोऽर्पयत् ॥ २२
सुरतव्रतचर्यायै, पर्यङ्कादपि सन्निभात् । पांसुलानामभूत् पांसुतल्पनीयं यवाधिकम् ॥ २३
नीरन्ध्रेणान्धकारेण, रोदसी सम्पुटीकृते । अथोत्पाटयितुं कोऽपि प्रवृत्त इव पूर्वतः ॥ २४
रचितोपक्रमे शशि, चक्रमाक्रमितुं दिशाम् । प्रभादम्भ नासारमाविर्गर्भन् पुरः स्फुरन् ॥ २५
रोहिणीरमणं वीक्ष्य, रागादागतमन्तिकम् । मास्मेरा सदुदयेनदम्भादमरादिन्द्रदिक् ॥ २६
अथोज्जगाम सामन्तं, कुसुमास्त्रमहीपतेः । शृङ्गारस्य जयोद्दामच्छदा कुमुदबान्धवः ॥ २७

---

१ 'पात्र, क्ष' प्र० ॥ २ 'वा यस्य, स' वा०। 'वा यश, स' प्र० ॥ ३ 'स्मरे ग' प्र० ॥ ४ दीपिका मु० ॥ ५ यथाधि' प्र० ॥

आविर्बभूव पूर्वस्मादद्रेश्चन्द्रः शनैः शनैः । तेर्दर्थैस्तटमाणिक्यकिरणैर्गैरिवारुणः ॥ २८
चकार तारिकारोचिरङ्कुरोत्करकैतवात् । करस्पर्शेन रागिण्याः, सोमो रोमोद्गमं दिवः ॥ २९
पुंश्चलीनां तपश्छिद्रं, समुद्रस्य महोत्सवः । रससिद्धिरनङ्गस्य, दिवमिन्दुरगादगात् ॥ ३०
मालिन्यं मार्जयामास, चन्द्रमास्तिमिरैः कृतम् । खलैर्दत्तं मृषादोषमिव सत्पुरुषः सताम् ॥ ३१
व्योमाङ्गणविकीर्णानि, तमांसि तुहिनद्युतिः । ममार्ज रुचिमार्जन्या, कुल्टाकुलकण्टकः ॥ ३२
न मृगाङ्के कलङ्कोऽयं, कस्तूरीतिलकाकृतिः । निदधौ नीलकण्ठेन, तिरस्त्येष झषध्वजः ॥ ३३
दिवि स्वर्वाहिनी हंसैर्दिक्षु दन्तैश्च दन्तिनाम् । मेदुराऽजनि मेदिन्यां, कौमुदी कौमुदैर्वनैः ॥ ३४
कर्णेहत्य चकोरीणां गणः पीत्वा सुधासवम् । अजायत मदेनेव, गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणः ॥ ३५
मरीचिनिचये चान्द्रे, सति सान्द्रे समन्ततः । धवलितं विश्वं दन्तसन्तत्या दन्तिनामिव ॥ ३६
शान्तध्वान्त-घनस्तोमे, कौमुदी-शरदागमे । हृदि श्यामोऽन्यतः श्वेतश्चकाशे चन्द्रखञ्जनः ॥ ३७
चन्दनैश्चर्चितेव द्यौर्दिशः कार्तैरिव श्रिताः । क्षीरेण क्षालितेवोर्वी, शर्वरीशे विराजति ॥ ३८
पीयूषपायसैः प्रीतं, चकोरद्विजसञ्चयम् । श्रेयोऽर्थं मन्मथस्येव, चकार शिशिरद्युतिः ॥ ३९
मन्दोर्हैरिन्दुकान्तानां, तदा सम्भवदम्भसाम् । प्रीतये चैत्रमित्रस्य, चन्द्रश्चक्रे प्रपा इव ॥ ४०
तरुणे तारकाध्यक्षे, वृक्षच्छाया विरेजिरे । तमसः खण्ड्यमानस्य, प्रतीकाः पतिता इव ॥ ४१
रमयत्यखिलामुर्वीमचण्डद्युतिमण्डले । कन्दर्पनृपते राज्यमेकच्छत्रमिवाभवत् ॥ ४२
सान्द्रे चन्द्रातपे तत्र, स्फुरद्भिः कैरवाकरैः । क्षीरनीरधिडिण्डीरपिण्डानां पाण्डिमा जितः ॥ ४३
नीरजन्मधुमत्तालिकुलकोलाहलैरिव । मानसे मदिराक्षीणां, प्रबुद्धः कुसुमायुधः ॥ ४४
अनल्पार्थभिराकल्पास्तेनिरे तदनन्तरम् । विजिगीषोरनङ्गस्य, सन्नाहा सुभटैरिव ॥ ४५
ज्योत्स्नाजलनिमग्नायाः, कस्याश्चित् कुञ्चितभ्रुवः । शरीरे चन्दनैः गौरैः, सौरभ्यादन्वमीयत ॥ ४६
सर्वत्र व्यक्तशर्वाणां, तुषारद्युतिरोचिषाम् । जगाम वामनेत्राणां, केशपक्षो विपक्षताम् ॥ ४७
विधृता शिववन्द्येन, या शिवेनापि मूर्धनि । सा ज्योत्स्ना सुदृशां केशाहस्तेन गल्हमिता ॥ ४८
लग्नः पादेषु कान्तानां, नखान्तः प्रतिमामिषात् । याचितुं वक्त्रलावण्यकणिकामिव चन्द्रमाः ॥ ४९
कबरी कैरवाक्षीणां, कचरा केलकीदलैः । हसन्तीव व्यभादाभां, विल्क्षामेगलक्ष्मणः ॥ ५०
यामिन्यामिन्दुशुभ्रायां शुभ्रवस्त्रावगुण्ठनाः । धम्मिल्लोद्धाविर्तं बिभ्रे, विजघ्नुरभिसारिकाः ॥ ५१
वधूनां वक्त्रमाविद्धं, रत्नकुण्डलकान्तिभिः । प्रियेषु सविलम्बेषु, रोषारुणमिव व्यभात् ॥ ५२
ताडपत्रश्रिया न्यस्तनीलाश्मगणवर्णया । पुस्तिकेव चकास्ति स्म, काचित् कामविपश्चितः ॥ ५३

कुचौ सुवृत्तौ धृतहारयष्टी, सकम्बुकौ गेहतुम्बुजाख्याः ।
रते स्थिनाया हृदि रसगाय, स्मरप्रयुक्ताविव सौविदल्लौ ॥ ५४

आकम्पिना शोभितमेखिलाभ्या, नियुद्धभूमित्व वधूरसस्य ।
तत्रोपधानच्छलतो बभूव, नितम्बवेदी स्मरपार्थिवस्य ॥ ५५

१ तथोयतट' बा० ॥ २ सारका' प्र० ॥ ३ धारसम् मु० ॥ ४ 'दिवाश्रि' बा० ॥ ५ इति बा० मु० ॥ ६ सुनादाः बा० ॥ ७ 'नं पौरैः, सौ' मु० ॥ ८ 'न, श्रीर्हि' मु० ॥

एकावली वक्षसि विस्फुरन्ती, रराज राजीवविलोचनायाः ।
येन शरव्यावेधविबोधहेतुर्लेखा खटिकयेव कृता स्मरेण ॥ ५६

दीपप्रभापिञ्जरितानि रेजुरन्योन्यरागाः रतमन्दिराणि ।
आपूर्य चित्तान्यतिरिच्यमानैः, प्रियानुरागैरिव पूरितानि ॥ ५७

कुरङ्गनाभीद्रवपत्रभङ्गी, कुचद्वयी चारुदृशस्तदाऽऽसीत् ।
सुप्तोत्थितस्य स्मरकुञ्जरस्य, मदाम्बुसिक्ता शयनस्थलीव ॥ ५८

माणिक्य-मुक्ताफल-काञ्चनानां, काचिन्मरीचिप्रचयार्चिताङ्गी ।
खरांशु शीतांशु हुताशनानां, मह समूहः पिहितेव रेजे ॥ ५९

ताम्बूल वस्त्राऽऽभरण प्रसून श्रीखण्डसंस्कारसमावलम्भि ।
सुलोचनानां परिचारिकाभिरमूच्यत श्रीननयोः सवर्थी ॥ ६०

नव वयश्चित्तमपास्तचिन्तमिन्द्रः सुधांशुर्मधुरा परिस्रुत् ।
सत्योऽनुकूलश्च विलासिनीनां गिरे तदा कान्तिविलम्ब एव ॥ ६१

अनिच्छतीनां निजमानभङ्गं, सङ्गं प्रियैः सत्वरमिच्छतीनाम् ।
अथेङ्गितज्ञस्य मनस्विनीनां, दूतीजनस्यावसरो बभूव ॥ ६२

विहानपूर्वं सितरोचिषेव, कृतव्यलीकैः सह कार्मुकैर्य ।
द्वसे प्रकोपेऽथ निसर्जनीये, सन्धिं विधत्ते स्म वधूजनस्य ॥ ६३

विभिन्नयोरह्नि रसा रजन्यामुदश्चदुच्चैरनुतापयोश्च ।
स्त्री पुंसयोः सङ्गमनक्षणेन, प्रागप्रदा काऽपि बभूव भूयः ॥ ६४

मानार्गलां काऽपि विलङ्घ्य वेश्म गन्तुं प्रवृत्ता दयितस्य यावत् ।
तावत् स एव स्वयमाजगाम, कामः किमिष्टं न करोति तुष्टः ॥ ६५

विलासवेश्माङ्गणमागतेषु कृतापराधेष्वपि वल्लभेषु ।
मनस्विनीनामथ मानमुद्रां, भ्रूभङ्गशेषामकरोदनङ्गः ॥ ६६

निष्कास्य कामः प्रसभं प्रकोपं, पुनः प्रवेशं प्रतिपेदुमस्य ।
अङ्गानि सारङ्गविलोचनानां, चक्रे स्फुटं कण्टकवेष्टितानि ॥ ६७

किं नेत्रमार्गेण मनोज्ञरूपा, कर्णाध्वना वा मधुरं वदन्ती ।
नासापथेनाथ सपुष्पवासा, प्रियस्य चित्ते प्रविवेश काचित् ॥ ६८

अगस्तिभिः सव्यवहार्यता गतैरनुज्ञयेव द्विजचक्रवर्तिनः ।
कान्तैः समं कान्तविलोचनाजनः, परिस्रुतं पातुमथोपचक्रमे ॥ ६९

कन्दर्पकेलिप्रथमप्रयोगसञ्जातलज्जामुकुलीकृतानि ।
तदा मदेन प्रकटीबभूवुर्मुग्धभ्रुवां विभ्रमचेष्टितानि ॥ ७०

---

१ 'विवेध' प्र० ॥ २ भङ्ग प्र० । भङ्गि वा० ॥ ३ नदन्ती मु० ॥ ४ 'मथ प्रचक' प्र० ॥
५ 'मुधामधुना प्र० ॥

आसाद्य कन्दर्पगुरूपदेशान्मधं महानन्दमिवाङ्गनाभिः ।
व्यावृत्तवस्त्वन्तरवासनाभिः, कृता किरीटेऽपि पतत्युपेक्षा ॥ ७१
मदाकुलानि प्रमदाकुलानि, विरेजुरापानगृहाङ्गणेषु ।
हृदि प्रविष्टस्मरचित्रपुङ्खदुःखादिवोद्घूर्णितमस्तकानि ॥ ७२
अधरैरधरीकृतं वधूनां, मधुमाधुर्यमवैमि विद्रुमाभैः ।
दयितैरत एव तेषु पानप्रतिपत्तिर्विहिता विहाय हालाम् ॥ ७३
परिजनैः प्रथमं गतमन्तिकादपसृतं वसनैर्जघनादथ ।
तदनु यानमथ त्रपया हृदः, स्थितमिहान्यमुखैव नतभ्रुवाम् ॥ ७४
आलिङ्गितायाः सुभगेन गाढमुद्गूढरम्भादलमार्दवेभ्यः ।
स्वेदोदबिन्दुच्छलतोऽपरस्याः, सुस्राव लावण्यमिवाङ्गकेभ्यः ॥ ७५
सकलमपि वपुर्विभिद्यमानं, मदनशरैरवलोक्य कामिनीनाम् ।
शरणमिव रदच्छदः प्रपेदे, प्रियवदनं यदलं प्रसह्य पातुम् ॥ ७६
मैरेयपानच्युतचेतनानां, तासामसाधारणविभ्रमाणाम् ।
नखाङ्कुशैरप्यनवाप्तसंज्ञो, गम्भीरवेदी मदनद्विपोऽभूत् ॥ ७७
आह्वातुं विषमशरं पुरोऽनुवाको, दोर्वल्लीवलयरवोऽभवद् वधूनाम् ।
तद्यज्वा मणितमभून्न मोहनाग्निष्टोमेऽस्मिन् मधुमधुराधरोष्ठसोमे ॥ ७८
निगदितुं विधिनाऽपि न शक्यते, सुभटता कुचयोः कुटिलभ्रुवाम् ।
सुरतसंयति यौ प्रियपीडितावपि नतिं न गतौ च्युतकञ्चुकौ ॥ ७९
उपरतसुरतश्रमास्त्रियामासमयविराममनोरमैर्मरुद्भिः ।
सरसनखपदे हृदि प्रियाणामथ शयिताः क्षणमप्यमारभाजः ॥ ८०
अवनमदमृतांशुबिम्बमौलिर्गलितवया इव शर्वरी व्यराजत् ।
अभजत ककुभं च जम्भजेतुर्जतुरसरक्त इव प्रभाप्रवाहः ॥ ८१

यातः शीतरुचिः प्रतीचिवलयो डिण्डीरपिण्डच्छवि–र्जृम्भारम्भमनोरमा कमलिनी सुप्तोत्थितेवाभवत् ।
चक्रन्दं न विधिर्विधूय सदयं चक्रेषु चक्रे मनः, सौरेणाजनि कुङ्कुमारुणमिव प्राचीमुखं रोचिषा ॥ ८२
देवोऽयं भुवनत्रयैकनयनं प्राप्तः प्रभाणां प्रभुः, कर्ता य कमलोदयं जगदिदं मोहाम्बुधेरुद्धरन् ।
प्रातस्त्यः समयो वयोविहतिभिर्व्योमेति यथापथ–माचिच्छेद तदीयमन्धतमसव्याजेन संव्यानकम् ॥ ८३

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये चन्द्रोदयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



---

१ महाङ्कु° मु० ॥ २ °बिम्बच्छ° बा० ॥ ३ °छतः पर° प्र० ॥ ४ कुसुमशरं मु० ॥ ५ वाम्या, पो° बा० मु० ॥ ६ तद्यज्वा भणि° बा० मु० ॥

अष्टमः सर्गः ।

अथ पाथोजिनीनाथे, चुम्बयाशां विडौजसः । प्रवुद्धं पङ्कजेनेव, श्रियं पात्रेण मन्त्रिणा ॥ १

कोकद्वन्द्वं तदाऽन्योन्यं, सङ्गतं सम्मदं सः । परकष्टे विनष्टे हि, सतां प्रीतिः प्रचीयते ॥ २

उन्मादं वीक्ष्य पद्मानां, कुमुदानां च मन्दताम् । क्षणिकत्वं विभूतीनां, चेतसा निश्चिकाय सः ॥ ३

कदाप्युदयति ध्वान्तं, कदाप्यर्कोऽथ धिग् विधिम् । तुल्यं नीचेऽप्यनीचेऽपि, स तदेति व्यतर्कयत् ॥ ४

करं चिक्षेप तीक्ष्णांशुर्दुस्तरे तिमिराम्बुधौ । प्रदातुमिव मज्जत्सु, भुवनेष्वावलम्बनम् ॥ ५

विच्छायास्तिमिरं तुच्छे, रेजुर्दीपाश्चलच्छिखाः । पेङ्काभूते पयःशेषे, स्फुरन्तः शफरा इव ॥ ६

तीक्ष्णैः सपदि भिन्दानः, कराग्रैस्तिमिरासुरम् । गोपणवारणः पूषा, प्रादुरासीन्नृसिंहवत् ॥ ७

अथोज्जगाम वामत्वं, कुमुदेषु प्रदर्शयन् । शिष्टव्यवहारैकप्राड्विवाको दिवाकरः ॥ ८

मलिनीभवदाशान्ते, शान्ते ध्वान्तघनोदये । अजायतसितः हंसो, नभःकासारमासदत् ॥ ९

न्यांसीकृता परं देशं, गच्छता भास्करेण या । स्फुटं स्फटिकभूर्वह्निं, प्रतिदत्ते स्म तां विभा ॥ १०

विवृतिर्विश्वसूत्रस्य, दशा निस्तिमिरौषधी । इष्टवार्ता च पद्मानां, दिद्युते द्युमणिद्युतिः ॥ ११

चकोरचक्रवालस्य, पातङ्गानि वरोदया । तमश्चक्रमधश्चक्रुश्चण्डरोचिर्मरीचयः ॥ १२

प्रसारितकरे सूरसिन्धुरेन्द्रेऽनुधावति । सुमेरुं परितो भ्राम, तमस्तोमः पुरःसरः ॥ १३

कुर्वाणः किरणाङ्कूरैरवतंसश्रियं दिशाम् । नभस्त्रिभागमागच्छद्दिनजीवितं विभुः ॥ १४

विलोललोचना प्रातर्मौलिमायानि तत्यजुः । लोके हि कारणेनैव, गौरवं गुणिनामपि ॥ १५

हृदि प्रियवियुक्तानां, साञ्जना वाष्पबिन्दवः । मज्जनां मारबाणानां, पुङ्खा इव विरेजिरे ॥ १६

बभ्राजे भुजगाभासं, त्रासयंस्तिमिरोत्करम् । सुवर्णरुचिराकारः, सुपर्ण इव भास्करः ॥ १७

अथ धर्मैकनिष्णातो, निष्णातः शुचिभिर्जलैः । वस्तुपालः त्रिकालज्ञं जगत्पूज्यमपूजयत् ॥ १८

वलक्षेणोत्तरीयेण, स बभौ बुद्धिमत्तरः । तुराययुगभातेन, सुकृतेनेव संश्रितः ॥ १९

मत्सरज्वरसन्तप्तं, मन्ये मुक्त्वाऽयमानसम् । आदिनाथः स्थितस्तस्य, हृदि सौहार्दशीतले ॥ २०

भालं तस्य विभाति स्म, चान्दनी तिलकाकृतिः । कृता सुकृतिना मन्ये, रेखा मुख्येव वेधसा ॥ २१

अलिङ्गितः शर्मणेव, पृथग्भूतः कलेरिव । सद्वृत्तेनेव निर्वृत्तः, स तदा शुशुभे भृशम् ॥ २२

देवेन्द्रं स्तुवतस्तस्य, रेजुर्दशनदीप्तयः । न कालोमालितानन्दसुधांशुकिरणश्रियः ॥ २३

दत्त्वा दानानि पात्रेभ्यो, नत्वा गुरुजनं च सः । मत्वाश्रितेन चित्तेन, भवं भावितवानिति ॥ २४

अहो ! संसारकारान्तर्मायानिगडितात्मनाम् । जायते जातु जन्तूनां, न कथञ्चन निर्वृतिः ॥ २५

केचिद् द्युम्नाय धावन्ति प्रद्युम्नाय च केचन । नोद्युङ्क्ते कोऽपि धर्माय, सर्वाभिप्रेतहेतवे ॥ २६

मोदमानोऽन्तरामैव, साक्षी यत्कर्मशर्मणे । तमप्युपेक्षते धर्ममहो ! मूढमना जनः ॥ २७

यस्मिन् सन्निहिते वह्निरिपावः प्रभवन्ति न । धर्मादप्यपरस्तस्मात्, कः शरण्यः शरीरिणाम् ? ॥ २८

धर्मसिद्धौ ध्रुवा सिद्धिर्द्युम्नप्रद्युम्नयोरपि । दुग्धोपलम्भे सुलभा, सम्पत्तिर्दधिसर्पिषोः ॥ २९

---

१ प्रनष्टे मु० ॥ २ पङ्कीभू° प्र० वा० ॥ ३ ता प्रभा प्र० ॥ ४ °भानान्त° वा० ॥ ५ नो प्र० ॥

उच्चैर्गिरं समारोप्य, नरं श्रीराशु नश्यति । दौःस्थ्यदत्तावलम्बोऽथ, स तस्मादवरोहति ॥ ३०

जितं लक्ष्मि ! त्वया यस्यै, जनस्तमपि सेवते । धनं निकारपूर्वं यत्, प्रदत्ते प्रेमनाथवत् ॥ ३१

धनस्याधर्मलभ्यस्य, मुग्धो लाभेन तुष्यति । सुकृतस्य दुरापस्य, न तु हानिमवेक्षते ॥ ३२

असाद्यते यया स्वर्गः, श्रिया सन्मार्गदत्तया । त्यक्त्वा तामप्यधर्मेण, मूर्खाः क्रीणन्ति दुष्कृतिम् ॥ ३३

स्वयमुत्पादितां लक्ष्मीं, पुत्रीमिव मनीषिणः । दत्वा पात्राय तद्दानफलमेवोपभुञ्जते ॥ ३४

पित्राद्यैरुपभुक्ता या, पुत्राद्यैरपि भोक्ष्यते । कामयन्ते न तां सन्तो, ग्रामवेश्यामिव श्रियम् ॥ ३५

तस्करैर्वा दुरीशैर्वा, हृतं संसहते धनम् । कदर्यो नैव सत्कार्ये, कल्पयन्नल्पमप्यद. ॥ ३६

अन्धा एव धनान्धाः स्युरिति नव्यं तथाहि ये । अन्योक्तेनात्मना गच्छन्त्यन्यहस्तावलम्बिनः ॥ ३७

धनी धनात्यये जाते, दूरं दुःखेन दूयते । दीपहस्तः प्रदीपेऽस्ते, तमसा बाध्यतेऽधिकम् ॥ ३८

आदावेव विकारं यः, प्रदर्शयति देहिनाम् । भवोच्छेदैकमानेभ्यो, विमदः स्वायते स किम् ! ॥ ३९

न संसारस्य वैरस्यमिदं वेत्ति जडो जनः । यत् सुखं स सुखाभासो, यद् दुःखं दुःखमेव तत् ॥ ४०

रमयन्ति मनस्तावद्, भावाः संसारसम्भवाः । यावन्न श्रूयते साश्रुलोकैः फूत्कारकाहलः ॥ ४१

अहो ! देहभृतां मोहः, प्ररोहति महालयम् । यदेते सुखमिच्छन्ति, विषयैर्दुःखहेतुभिः ॥ ४२

छत्रच्छायाच्छलेनामी, धात्रा चक्रे निवेशिताः । भ्रमन्तोऽपि स्वधामानं, मन्यते स्थिरमीश्वराः ॥ ४३

मदान्धास्ते परं लोकं, कथं, पश्यन्तु भूभुजः ? । तमोमण्डलमध्यस्थाश्छत्रच्छायाच्छलेन ये ॥ ४४

सुखं विषयसेवेति, सक्तास्तत्रैव जन्तवः । यः प्रमोदस्तु तत्त्यागात्, तदास्वादः कश्चिद् यदि ॥ ४५

भवस्यं नश्वरं देहं, दुर्दमं च यमे द्विषि । हौस्थ्यमात्याद् विनिर्याति, यत् पुंसामिदमद्भुतम् ॥ ४६

कालेन नौनिकेनेव, नीयमानो जनः पशुः । क्षिपत्येव विपासन्ने, सुखे विषयशाद्वले ॥ ४७

कायः कर्मकरोऽयं तत्, न कार्योऽनिलालना । मुनिमानोचितो हेष, प्रपुष्टो विचिकीर्षते ॥ ४८

प्रयोजकान्यकार्येषु, नश्यन्त्याशु महापदि । दुर्मित्राणीव खान्येव, बन्धुबुद्धिरधीमताम् ॥ ४९

योऽयं जीवितभूतेषु, स्नेहग्रन्थिः सुतादिषु । विभागावसरे पुंसां, व्यक्तः सोऽपि भविष्यति ॥ ५०

दुःखाग्निर्वा स्मराग्निर्वा, क्रोधाग्निर्वा हृदि ज्वलन् । न हन्त ! शान्तिमायाति, देहिनामविवेकिनाम् ॥ ५१

अविद्यामेव सेवन्ते, हन्त ! विद्यां व्युदस्य ये । ते दूयामनुगच्छन्ते, वरारोहाविहायिनः ॥ ५२

तटस्थः प्रेक्षते योगी, जगदस्मिन् भवार्णवे । मज्जनोन्मज्जनं कुर्वद्, दुष्कृतैः सुकृतैर्निजैः ॥ ५३

विषपानिवसुखस्य, दण्डमादाय ये स्थिताः । संसारसारमेयोऽसौ, बिभ्यन् तेभ्यः पलायते ॥ ५४

सर्वं संवृतिनिर्णेयं, दुःखैः पूर्णं निरन्तरम् । यत्तदन्यत्तिरेकेण, नान्यत् किञ्चिदिहात्मने ॥ ५५

शिवो तिष्ठति सर्वोर्वे, धर्मो धर्मः शरीरिणाम् । स एव केवलं तस्मादस्माकं जायतां गतिः ॥ ५६

सुचिरमिति विचार्य पुण्यधैर्याः, विदुषि चिरर्षिणि तत्र तीर्थयात्राम् ।
विदधदथ पैथः प्रशान्तपङ्कान्, ऋतुरपनुतमयूखमण्डलोऽभूत् ॥ ५७

१ 'स्योऽयः, स मु० ॥ २ विकार' पूर्वो यस्मिन् विधानमिति भावः, तथ भरणम् प्र० टि० ॥ ३ 'मपंस्' पा० मु० ॥ ४ पीडन्ति पा० मु० ॥ ५ 'प्रधनमो' प्र० ॥ ६ 'सुराधो' मु० ॥ ७ 'शिशस्य स' मु० ॥ ८ भरम् प्र० टि० ॥ ९ स्यदत्ते प्र० ॥ १० 'फत्कुत्कारकाहलः मु० ॥ ११ दास्यं माहया' पा० मु० ॥ १२ विमयात्र' पा० मु० ॥ १३ 'धर्मो मु० ॥ १४ पथ प्रशान्तपङ्कतुर' मु० ॥

भवभवरमिमं विमृश्य सम्यग्, गलितरसैर्विषयेषु वारिवाहैः ।
मुनिभिरिव निबद्धमौनमुद्रैर्गगनवनं विमलात्मभिश्च भेजे ॥ ५८

पतिरतिनपति स्म वासराणामतिशुभति स्म विभावरीभुजङ्गः ।
जलमतिभजति स्म निर्मलत्वं, मधुरमतिध्वनति स्म राजहंसी ॥ ५९

पुलिनपरिसरे सरस्वतीनामजनि समागमनं सुखञ्जनानाम् ।
भवति यदवलोकनादनाविष्कृतहसितारिमुखं सुखं जनानाम् ॥ ६०

क्षितिवलयजयोज्जिहानवीरा, क्रमविरमज्जलपूरसिन्धुतीरा ।
शरदवनरति स्म मत्तहंसा, दिशि दिशि काशकदम्बकावतंसा ॥ ६१

कुटजविटपिन प्रसूनशून्यानलिपटलं परिहृत्य सप्तपर्णे ।
सममरमत दन्तिदानगन्धैर्जगति समृद्धमुपैति सर्व एव ॥ ६२

विदेन्तिजगदापद पयोदा, परिगलिताम्बुविभूतयो बभूवुः ।
अहह ! न सहते महीयसामभ्युदयमियं नियतिर्धिरायवैरा ॥ ६३

मन्मथसमयावये विनिष्ट, ऋतुपुरपो भवतीति तथ्यमेव ।
दधतुरपरथा कथं विकाशं, दिनपति-रात्रिपती तदीयनेत्रे[1] ॥ ६४

सरसिसुरभि सर समीर, कलमसमृद्धिसमुदिता धरित्री ।
कलमपि कलहंसकामिनीनां, रसितमथ व्यथयाञ्चकार पान्थान् ॥ ६५

कलयति कलशोद्भवे प्रकाशं, मलयनगाश्रयिणि नभोविभागे ।
अगदगदमभूत् पयश्च पेयं, ननु महतामुदयो मुदे न कस्य[2] ॥ ६६

स्तनितमुपगते पयोधरौघे, ध्वनिरजनि प्रभुणा शिशिरे ।
परिहृतमवनीश्वरे शिखिभिर्जगत्यभिनयनाग्निदग्धे ॥ ६७

गतगुरुजयप्रभे पयोदैर्विधानि कृत व्यथित स्वयं न कस्य ।
अधिपतिरनिशात्प्रमुष्णमल्ला, नदिव सुरनिस्तमुसमगभे तेज ॥ ६८

भास गुम्फा चेतभास प्रदीपे, गोमाहनदोदीपिता दीपमाली ।
दुर्धीदीपा शर्दरा यत्र पथ्य, दिष्ट्या दिष्ट स प्रदिष्ट पृथिव्याम् ॥ ६९

हंसाला नवनलिनीविनोदमुखानामारदैरिव सुरजिग्मुमेष निशाम् ।
अम्भागिरिभुवनमार्गमुधीरभिनागेन्य स्वयतुपर्पणसङ्गात ॥ ७०

स्पन्दे धारि निधागिनाधरधतुर्मेम स्वनतान्सम पयोदा समदा गिरिष्ठस्वपुगाश गवाना पुरः ।
भान्ति स्म प्रथपमनृप्रयनिका तोर्यन्तपुनेत्रिन, स्यामाय्मेषस्वभंत स्नापद दिवानिनादर्पण ॥ ७१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये शरमार्गविस्तारो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

---

१ विगलित' ब० पु० । २ समस्त' ब० पु० । ३ स्थितिर्न स्थवीस समद पु० ।

नवमः सर्गः ।

चिकीर्षिता श्रीसचिवेन तीर्थयात्राऽथ सोऽयं[1] समयः समेतः ।
महात्मनामीहितकार्यसिद्धौ, विधिर्विधत्ते हि सदाऽऽनुकूल्यम् ॥ १

धर्मैकमित्रोपनिमन्त्रणार्थं, तेनार्थिमित्रेण चराः प्रयुक्ताः[2] ।
न केवलं स्वेन कृतार्थितेन, परैः कृतार्थैः कृतिनः कृतार्थाः ॥ २

स्थानस्थाऽऽनन्दविसंस्थुलोऽयं, लोकः प्रयाणप्रवणांश्चकार ।
उपक्रमे पुण्यकृतां क्रियाणां, रामस्यमभ्यस्यति को न साधु' ? ॥ ३

पाथेयवन्तः पथि योग्ययुग्या[4], सोपानहः सोदकभाजनाश्च ।
श्रीवस्तुपालेन समं जनौघाः, प्रयाणकाय प्रवणा बभूवुः ॥ ४

आकारितस्तेन कृतादरेण, दूरादपि श्राद्धजनः समेतः ।
ययुस्तदीयानि पुनर्यशांसि, दिगन्तरेभ्योऽपि दिगन्तराणि ॥ ५

समं समग्रैरपि बन्धुवर्गैर्निसर्गबन्धुर्विबुधव्रजस्य ।
शुभे मुहूर्तेऽथ शुभैर्निमित्तैर्मन्त्री स्वनाथानुमतः प्रतस्थे ॥ ६

पुरः प्रशस्तां फल-पुष्पहस्तां, प्रमोदमानः प्रमदां विलोक्य ।
निरन्तरायां पथि तीर्थयात्रां, मन्त्रीश्वरश्चेतसि निश्चिकाय ॥ ७

स्थितः क्षणं क्षीरतरोरधस्ताद्, धृतानुवृत्तान् सुजनान् निवर्त्य ।
खरस्य वामं स्वरमध्वगामी, शुश्राव सुश्रावकचक्रशक्र' ॥ ८

अक्षेषु नित्यं कृतनिग्रहोऽपि, जग्राह तांस्तान् नियमानमात्यः ।
स्वभावशुद्धाः सुधियो हि तेषां, पावित्र्यलाभाय तथापि लोभः ॥ ९

रथैस्तुरङ्गैः करभैर्महोक्षैर्गमुस्तदा केऽपि कथञ्चनापि ।
मन्त्रीश्वरे धर्मधराधुरीणे, तस्मिन् विशश्राम भरस्तु तेषाम् ॥ १०

न वाहनं यस्य स तस्य यानं, नासीद् धनं यस्य स तस्य वित्तम् ।
न चीवरं यस्य स तस्य वस्त्रं, कम्पद्रुकल्पः प्रददौ[5] पदव्याम् ॥ ११

भुङ्क्ते स्म सर्वेष्वपि भुक्तवत्सु, शेते स्म सुप्तेषु स यात्रिकेषु ।
प्रबुध्यते स्म प्रथमं तदित्थं, सद्मप्रभुवन्नतमाचचार ॥ १२

प्रभूतभोग्यानि बहूदकानि, सगोरसान्युन्मदमानवानि ।
तस्यातिदुर्गेऽपि पथि प्रयाणान्युद्यानलीलासदृशान्यभूवन् ॥ १३

---

१ °यं शारदा समे° मु० ॥ २ निमन्त्रणार्थं मु० ॥ ३ °म् स्यम° प्र० शा० ॥ ४ °दाक्ताः शा० कां० ॥ ५ °दौ पृथिव्याम् शा० मु० ॥

यात्राप्रसङ्गेन जगाम येषु, पुरेषु पौरोच्छ्रिततोरणेषु ।
तेषामधीशैः सविशेषमेष, सम्मान्यमानः सममानयत् तान् ॥ १४
अभ्यर्थ्यमानः पथिकैरनेकैर्वस्तून्यनेकान्यपि वस्तुपालः ।
तेभ्यः प्रभूतानि पथि प्रयच्छन्, नाहङ्करोति स्म न कुप्यति स्म ॥ १५
गीतानि जैनान्युचितानि गातुं, जनो जगौ वर्त्मनि मध्यमध्ये ।
प्रमोदपूरोद्गतरोमराजिर्निरन्तरं तस्य पुनर्यशांसि ॥ १६
अनुक्रमेण प्रसृताऽस्य साधोः, सा धोरणी यान्त्रिकधोरणानाम् ।
वैमानिकैर्व्योमनि नाकिलोकैर्भूमानयष्टिप्रतिमा व्यलोकि ॥ १७
पुरश्च पृष्ठेऽपि च पार्श्वयोश्च, परिस्फुरत्खड्गलतेहि हस्ताः ।
यात्राजनं वर्त्मनि तस्य शश्वदश्वाधिरूढाः सुभटा ररक्षुः ॥ १८
समुद्धृतैर्जीर्णजिनेन्द्रहर्म्यैर्नवैः सरोभिश्च सरोजरम्यैः ।
प्रस्थानमार्गः सचिवस्य सोऽभूदजानतामप्युपलक्षणीयः ॥ १९
यावन्ति बिम्बानि जिनेश्वराणां, श्वेताम्बराणां च कदम्बकानि ।
मार्गेषु तेषां सुविनाशितार्तिः, पूजां स निर्वर्त्य ततः प्रतस्थे ॥ २०
स पञ्चपैर्निर्विषमप्रपञ्चप्रयाणकैः प्रीणितसङ्घलोकः ।
धराधरं धर्मधुरन्धरः श्रीशत्रुञ्जयं शत्रुजयी जगाम ॥ २१
आरात् स यादपि मुदेऽस्मिन्नश्मोच्चये पस्मरत्पुलकचेता ।
मन्त्री मिथ्यागर्वध्वनोपमर्दं, कपर्दिनं नाम ननाम यक्षम् ॥ २२
स पर्वभिस्तस्य तनुं कपर्दियक्षस्य यक्षोपपदैर्विविच्य ।
पुष्पैरनेकैर्विलसद्विवेकस्त्रिलोकपूज्यस्य चकार पूजाम् ॥ २३
अन्वथमन्वगततमलपापभोग भृगुभृता जनेन ।
शृङ्गावलिम्यानसिपन्मुखोऽपि, सोऽस्य नुपेताऽऽरुरह मेरीष ॥ २४
तत्राऽऽदिनाथस्य नमस्यमूर्तेः, स्नात्रं च पूजां च विधाय मन्त्री ।
पुरः पुरन्ध्रीनयनाः प्रमोदोत्फुल्लमना नृत्यमकारयत् सः ॥ २५
संश्लिष्टमप्यद्भुतपो, नै दृग्यान् वितपवन्दनीयम ।
अमेयतेजोमयमण्डलस्थं यथा पुमांसं परमं स मन्त्री ॥ २६
विलप्यमानः सचिवेन तेन पूज्यांहिरो पूज्यतमस्य तस्य ।
सद्गुद्गुरुल्गानजल्पच्छन्न, गल्लिनवाऽऽसोरपन गीगगग ॥ २७
न केवलं केवलिचक्रवर्ती, छत्रवर्ती सचिवस्य सोऽभूत् ।
शुश्रूषकोऽस्येव दिगम्बरस्य, नयान नाना यस्य नेत्रीयम् ॥ २८

१ 'जैनानुचि' का० ॥ २ 'गृहमन्ध' प्र० का० ॥ ३ 'साधारणी सा' का० धा० । सा धोरणिर्या' मु० ॥ ४ 'समाप्तलो' का० मु० ॥ ५ मदीप्रा का० । मदीप्रः मु० ॥ ६ स्नात्रं च मु० ॥ ७ 'नृत्याग्मना का० मु० ॥ ८ 'य मतोऽस्मागाम् मु० ॥ ९ मदीयम् का० मु० ॥

श्रीनाभिसूनुर्भगनाभिमुख्यैः, पूजोपहारैः प्रचुरैः प्रसन्नः ।
मन्ये स्वभावादपि वीतरागः, स स्फीतरागः सचिवे बभूव ॥ २९

स श्वेत-पीतैर्वसनैर्व्यधत्त, धाम्नि प्रभोरस्य महापताकाम् ।
सरोजराजीरजसाऽनुविद्धो, जिग्ये यया सिद्धसरित्प्रवाहः ॥ ३०

धर्माय निर्मापयति स्म तस्मिन्, मन्त्री धरित्रीभृति वस्तुपालः ।
श्रीनेमि-पार्श्वप्रभुहर्म्ययुग्ममग्रमनेत्राचलशृङ्गचारु ॥ ३१

प्रासादसौन्दर्यविलोकनेन, सम्भूतभूयस्तरसम्मदानाम् ।
विभान्ति तत्कान्तिकरम्बितानि, कृतस्मितानीव दिशां मुखानि ॥ ३२

यदुत्तमाङ्गस्थितशातकुम्भकुम्भध्वजस्फूर्जदभीशुभिन्नाः ।
अम्पेऽप्यनेन्पा इव वासरान्ते, चिराद् विराजन्ति कराः खरांशोः ॥ ३३

कथं न विश्वैककुटुम्बकोऽसौ ?, यस्त्यक्तभेदं घटयाञ्चकार ।
यन्मण्डपे चण्डपपौत्रपौत्रः, स्वपूर्वजानां सुहृदां च मूर्तीः ॥ ३४

स्वस्यानुजस्यापि च मूर्तियुग्मं, तुरङ्गयुग्मस्थमचीकरद् यः ।
मनीषिणां मुख्यतमोऽपि मन्ये, वृषस्थमात्मानमयं न वेत्ति ॥ ३५

शैलोपकण्ठेऽयमकुण्ठबुद्धिः, सरः सरस्वत्सदृशं चकार ।
उष्णेऽपि नोष्णानि भवन्ति यस्य, वारीणि रीणाध्वगजीवितानि ॥ ३६

दिनाणि तत्रैव दिनानि नीत्वा, क्रीत्वाऽर्थदानैः सुकृतं यशश्च ।
कथञ्चिदापृच्छ्य तमीशमार्थं, माघन्नसौ रैवतकं जगाम ॥ ३७

तमुज्जयन्तापरसंज्ञमद्रिमाज्ञाविधेयाखिलसङ्घलोकः ।
स विश्वमुच्चैरमृतेन सिञ्चन्नुपागमन्नव्य इवाम्बुवाहः ॥ ३८

तुरङ्गमाणां चरणाग्रघातैरुद्धूतधूलीपटलच्छलेन ।
तस्य प्रयाणे प्रणयिप्रियत्वं, नगोऽनुगच्छन्निव स व्यराजत् ॥ ३९

नरो न रोगापदमाप कोऽपि, न क्वापि यानव्यसनं बभूव ।
कस्याप्यभूत् तत्सुकृतप्रभावान्न वस्तुनो हानिरहानि तानि ॥ ४०

सुखेन सार्थः पथि यात्रिकाणां, सिन्धूरगाधा अपि तास्ततार ।
संसारनामानमपारमब्धिं, स तु स्वयं लङ्घयितुं प्रवृत्तः ॥ ४१

मनागनालोकितदुर्निमित्तः, पदे पदे प्राज्यतृणोदकाढ्यः ।
अहिंस्रजीवश्च बभूव तस्य, मार्गः सुदुर्गोऽपि किलानुकूलः ॥ ४२

तीर्थैः समग्रैरुपचर्यमाणं, सिद्धैरनेकैरुपरुध्यमानम् ।
रत्नैरनन्तैरुपचीयमानं, भूतैः प्रभूतैरुपजीव्यमानम् ॥ ४३

---

१ स्रा अपि धा° मु० ॥ २ °णयप्रि° ना० ॥ ३ °स्य, जनोऽनु° धं० ॥ ४ °तुं समर्थः प्र० ॥ ५ °वस्य ध° वा० मु० ॥

फलानि पुष्पाणि मनोरमाणि, यस्य द्रुमाः प्रत्यहमुद्वहन्ति ।
अत्यन्तभक्तेषु भवत्यवश्यं, श्रिये महत्यै महतामुपास्तिः ॥ ५९ ॥
श्रीनेमिनाथेन जिनेश्वरेण, पवित्रिते यत्र धराधरेन्द्रे ।
हिंस्राः समुज्झन्ति परःसहस्राः, स्वभावसिद्धामपि वैरबुद्धिम् ॥ ६० ॥
तं गोत्रमुख्यं विधृतक्षमं च, सद्वंशजातं च समुन्नतं च ।
श्रीवस्तुपालः कमलाढ्यकुल्यं, स्वेकल्पमुर्वीधरमारुरोह ॥ ६१ ॥
रीणान् धुरीणान् युगतो वियुज्य, जनेषु यातेषु तमद्रिमुच्चैः ।
अस्थायि तेषां शकटैरधस्तान्न सद्गतिः स्याद् वृषवर्जितानाम् ॥ ६२ ॥
न केवलं शैलशिरोऽधिरूढः, समानमानानधरीचकार ।
अधो विधातुं स विशुद्धबुद्धिः, संसारमप्यारभते स्म मन्त्री ॥ ६३ ॥
श्रीनेमिनामानममानवीर्यैस्तेजोभिरभ्युज्ज्वलयन्तमाशाः ।
जिनेन्द्रमत्रैव जनेन्द्रमन्त्री, निदर्शनातीतमसौ ददर्श ॥ ६४ ॥
स्नात्रं स पात्रप्रतिपादितार्घैस्तीर्थोदकैस्तीर्थकरस्य तस्य ।
कृत्वा च कृष्णागुरु-चन्दनाद्यैर्विलेपनं धौतमलानुलेपः ॥ ६५ ॥
घनैः प्रसूनैर्वसनैरनूनैः, पत्रैः पवित्रैरशनैः प्रधानैः ।
नृत्तैर्वधूनां च गृहीतचित्तैर्गानैः सदानैर्वितताम पूजाम् ॥ ६६ ॥ युग्मम् ॥
प्रभोः सपर्याविसरेषु तस्य, कर्पूरधूपे परितः स्फुरद्भिः ।
तमद्रिमेकं सुरभीचकार, दिशो यशोभिः स पुनः समग्राः ॥ ६७ ॥
श्रीनेमिनाथावसथान्तरस्थे, कर्पूर-कृष्णागुरुधूपधूमे ।
पलायमानः कलिरेष कालस्तत्कालमासीन्मशकानुकारी ॥ ६८ ॥
धर्मक्रियाविस्मृतराजकार्यस्तत्रैव निन्ये स बहून्यहानि ।
असक्तमासक्तमनोऽन्वितेऽर्थे, कालातिपातं न हि वेत्ति चेतः ॥ ६९ ॥
नमन्नमन्दप्रतिभः प्रभासे, चन्द्रप्रभं चन्द्रसमानकीर्तिः ।
श्लाघाचलत्कन्धरमाद्यलोके, लोकेन सौराष्ट्रनिवासिनाऽसौ ॥ ७० ॥
अभ्यर्च्य भक्त्या भवभग्न तीर्थे, श्रीसोमनाथाभिधया प्रसिद्धम् ।
प्रत्तप्रसूनाञ्जलिना प्रदत्तो, जलाञ्जलिस्तेन पुनर्भवाय ॥ ७१ ॥
तेनोपनीतैर्घनसारधूपैः, स्वमक्रमज्ञारितमीनकेतुः ।
शङ्के स रुद्रेश्वरकन्धरायैर्धिराय विश्वं सुरभीचकार ॥ ७२ ॥
अनेन सत्यापितसद्गुरूपदेशेन तद्देशनिवासिनीनाम् ।
सुवासिनीनां वदनाब्जराजौ, निवेशिता स्वस्तुतिराजहंसी ॥ ७३ ॥

१ स्वतुल्यमु' प्र० का० ॥ २ 'धातुं सुधिं' का० ॥ ३ 'रभ्युज्ज्व' बा० का० ॥ ४ स्नानं स मु० ॥ ५ 'रपूरैः परि' मु० ॥

সময় পিছিয়ে।

KATHAVATE'S INTRODUCTION
to the first edition of
KĪRTIKAUMUDI

Kirtikaumudi, like *Vikramankadevacharita* and *Sriharshacharita*, is a Panegyric written by a poet on his patron In this instance the patron is not a king, but the the minister of a king In order to interest the reader in the poem, it is enough to mention that it was the hero of this panegyric and his brother who erected the justly famed *Jaina temples* on Mount Abu If a sentimental traveller while winding his way to the temples through the mountain, is held enchanted by the huge rocks sending into the skies their fantastic summits if the thick forest enriched by the fragrant *Champa* the shady *Jambu* loaded with luscious fruit, the tall *Pangarā* covered with a dazzling blossom the delicious jasmine and the delicate *Sirisha*, and made sonorous by endless varieties of the notes of birds charms the senses if majestic nature subdues his heart by pleasing grandeur on the way on entering these lovely edifices he is compelled to admit that art, Nature's daughter, has charms which are her own No better description of these triumphs of art can be conceived than the following —

" The principal feature in each is the usual octagonal dome, forming a vestibule to the adytum, wherein the objects of worship are enshrined and around which is a columned peristyle, roofed with numerous domes The whole edifice is of white marble and the sculptured ornaments with which every part of the surface is covered are so finely chiselled, as to suggest the idea that they have been moulded of wax, the semi transparent edges almost realizing by their hardly perceptible thickness, the mathematician s definition of a line The pendant which hangs from the centre of the dome of the temple of Tejpal is particularly remarkable, and rivets the attention of every visitor As Colonel Tod justly remarks, ' the delineation of it defies the pen, and would tax to the utmost the pencil of the most patient artist and he is secure in asserting that no ornament of the most florid style of Gothic architecture can be compared with it in richness ' It appears like a cluster of the half-disclosed lotus, whose cups are so thin, so transparent and so accurately wrought, that it fixes the eye in admiration The sculpture of these temples does not, however, confine itself to the representation of inanimate natural objects, it exercises itself also upon the scenes of domestic life the labours of navigation and commerce, and the struggles of the battle-field and it may be safely asserted that the student of antiquities, who should devote sufficient attention to these bas-reliefs, would be amply repaid by a large increase of knowledge regarding many interesting points in the manners and customs of mediaeval India – *Forbes Rasmala*

The present account of those great men to whose liberality India is indebted for these artistic structures is further interesting as being a contemporary record Indeed if commemoration of events of the time had been the author s aim more

than showing his own skill in devising new modes of adulation and winning for his work the name of a Mahākāvya, the purposes of antiquarian inquiry would have been better served. As it is, the poem throws some light on the obscure period when the *Anahillavāda* house was superseded by the *Dhavalakkaka* house. But before making an analysis of the facts contained in the poem, it will be well to note what is known of the author and make some estimate of the merits of his writings.

II

The name of the author is *Someśvaradeva.* It is mentioned at the end of each canto and also in the body of the poem. At the end of each canto it is mentioned that the poet was the family-priest of the king of the *Gūrjaras*. In the beginning of the poem the poet says,[1] "*Śrī Someśvaradeva* delineates the character of *Vastupāla*, seeing that minister's devotion to himself (*Someśvara*, the author) is extreme, that his (the minister's) family is illustrious, his personal appearance splendid, his conduct excellent, his charity accompanied by courtesy, his elevated position such as humbles his foes, his talents such as defy those of *Bṛhaspati*, his mercy such as crushes all germ of fear, his fame an ornament of the earth, his administration regulated by justice." He further declares, in his own way, that it was genuine admiration of his hero that prompted the poem. He says, "in consequence of the excessive joy at finding a treasure of rubies in the excellent qualifications of the great minister, the muse of *Śrī Someśvara* is impatient to sing" Further on[2] the poet mentions that he was the priest of *Lavaṇaprasāda* of *Dhavalakkaka*, a prince descended from one of the kings of *Anahillapura*.

I have met with several inscriptions composed by *Someśvara* two in the temple on Mount Abu, built by *Vastupāla's* brother, are given in the Appendix. These are dated 1297 *Samvat* or 1241 A. D. There is a third at *Dabhoi*, in the territory of His Highness the *Gāyakwāda*, on one side of the gate called *Hīrā Bhāgoḷa*. Greater part of it has become illegible. The stone on which it is inscribed is broken, and many lines are altogether effaced. It contains several found in the *Kīrtikaumudī* and in one of the inscriptions on Mount Abu. The line in which the author's name is mentioned runs thus:—

श्रास्तिमेतां .. .. शर्मभूतभूपालपुरोहितेन्द्रः ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा धामार्थनिष्पक्षमहाप्रबन्धः ।

It is dated 1311 *Samvat* (1255 A. D.) *Jyeshtha Sudi Budha Dine*, Wednesday the ..... day of the moonlight fortnight of *Jyeshtha*. The inscriptions in *Vastupāla's* temple on the *Śatruñjaya* hill are the composition of this poet. I have not seen them, but from the photographs which Dr. *Bühler* kindly showed to me, I find they are dated 1288 *Samvat* (1232 A D), the 10th day of the dark fortnight of *Phālguna*.

From this evidence it is clear that *Someśvara* was the family-priest of *Bhīmadeva of Anahillavāda Pattana* and of *Lavaṇaprasāda* of Dholka, and that he was patronised by the two Jaina ministers, *Vastupāla* and *Tejhpāla*[3] whom he entertained by his witty poems panegyrics. The *Chaturvinśati Prabandh* of

---

1 Page 5, Sts 45 to 48 2 Page 16, St. 64 3 This work was written in 1405 *Samvat*, or 1349 A. D, at the instance of *Mahanasimha* at *Dhilli* (Delhi ?)

Rājasekhara contains several anecdotes regarding *Someśvara* and his patrons, the two ministers It appears from one of the *Prabandhas* that there was great jealousy between *Someśvara* and the *Jaina Panditas* of his time One of these *Harihara*[1] came to the court of *Viradhavala* By his wit and learning he gained the favour of the king as well as of the minister *Vastupāla* This roused the jealousy of *Someśvara*, who never attended the court when *Harihara* was present But once the king sent for *Someśvara*, and asked him to read before *Harihara* a poem consisting of one hundred and eight verses which he (*Someśvara*) had composed for being inscribed on a tablet in a new temple of *Vira Narāyana*, built by the king. *Harihara* heard the verses, and said they were good-he knew them. The king looked surprised, but *Harihara* immmediately recited them word for word *Someśvara* was overwhelmed with shame When all left the court, he went to *Vastupāla* and assured him that the poem was really his own composition, and asked him how he could free himself from the unmerited disgrace *Vastupāla* advised him to seek the friendship of *Harihara* *Someśvara* was obliged to listen to the advice, and when he was thus humbled, *Harihara* one day went to the king's court and related how he had acquired by certain austerities the power of committing to memory, only by hearing once, any number of verses not exceeding one hundred and eight. He assured the king that the poem in question was an original composition of *Someśvara* *Someśvara*'s credit was re-established The *Prabandha* goes on to say that *Harihara*, after some days, left the court, being disgusted with the jealousy of *Someśvara*

It will appear from the sequel that *Someśvara*'s influence at the court remained undiminished even after the accession of *Visaldeva* to the throne of *Pattana*, and that he was able to prove the sincerity of his love to his patron by saving him from the effects of the displeasure of that young king

I have been told that there is a commentary on *Kāvyaprakāśa* written by *Someśvara*, and also a life of *Kumarapala* There is a copy of the first at Jessalmir, and one of the second in the celebrated *Bhāndāra* at *Pattana* I tried hard to get at this book, but to no purpose

As to the poetical merit of the present work, I humbly think that it does show that the author possessed to a certain extent 'the vision and the feculty divine' It must be admitted that his taste was affected by the corrupt tendency of his age His work is full of play upon words and all varieties of alliteration But he employes these generally whenever he is writing on worn out and exhausted topics Whenever he has got anything new to say, and he frequently has it, his expression is happy and full of feeling The dream of *Viradhavala*, containing the wail of the guardian deity of the kingdom of Gujarat for her past glory, is a splendid composition It is translated into English by Dr *Buhler* -(See Indian Antiquary, page 189, volume VI, Part LXIX) The descriptions of the morning and evening and of the seasons are also remarkable Some of the reflexions on moral and political subjects are extremely well conceived In describing the disinterestedness of his hero, he says, he (the minister) was not only free from the desire of appropriating the wealth of the people, but was even above the

1 He is mentioned in *Kirtikaumudi* See page 3 (P 4 in this edition) St. 25

temptation of praise. Many an administrator, even at the present day, may well study the precept contained in this. In one place he expresses his wonder at the bewilderment of man who neglects his duty, though the inner soul bears direct testimony to its paramount claim by rejoicing when it is fulfilled. This is another mode of expressing the doctrine that conscience is the final ethical sanction or standard. *His style is generally clear and felicitous, and-barring the puns-the* writing may be regarded as one of good taste. One accustomed to read *Sanskrita* poetry may not regard an hour or two spent in reading it as ill spent.

III

For those scholars who do not read *Sanskrita*, I propose to give a short abstract of the contents of this poem. It opens with an invocation of the blessing of *Vishṇu*, *Śiva* and *Pārvatī* and *Śiva* and *Vishṇu* in incorporate forms, and lastly, *Sarasvatī*, the goddess of learning. Then, after making his obeisance to poets in general, the poet *goes on to mention in particular Vālmīki, Vyāsa, Kālidāsa, Māgha, Bhāravi* and *Bāna*, paying some graceful compliment to each. Then follow more modern and less generally known authors. They are *Dhanpāla*, *Bihlana*, *Hemasūri*, *Nīlakaṇṭha*, *Prahlādanadeva*, *Narachandra*, *Vijayasimha*, *Subhaṭa*, *Harihara*, *Yaśovīra* and *Vastupāla*. Next, a few verses are devoted to the praise of good men and to the deprecation of wicked men. Then the poet mentions that it-was his sincere admiration of the virtues of *Vastupāla* and the kindness which that minister always showed to him, which prompted him to write the poem. Thus finishing his introduction, the poet enters upon the subject of his poem. *Anahillpura* is described as a large city protected by a fortification. It has extensive gardens. The palaces in it are large, and the bright terraces seem as if they were all silver. On all sides are heard *Vedas* repeated, joyful songs sung and praises chanted by bards. There is a large temple of *Mahādeva* in it. The population is not exclusively *Jaina*, for sacrificial smoke is described as going up to heaven The river *Sarasvatī* runs by its side. The women in the city are beautiful, and adorn their persons with rich ornaments. The dust raised by prancing horses *is* put down by the rut flowing from the temples of elephants. The palaces are lofty like mountains, and their tops are adorned by flags Beautiful women attract the hearts of young men, yet no irregularity follows, as the administration *of justice is perfect.* Near the town there is a large lake surrounded on all sides by temples, and having on one side a triumphal column of enormous height.[1]

In giving an account of *Anāhillapura* kings, the poet does not begin with *Vanarāja*, but begins with the accession of *Mūlarāja* to the throne. The sovereignty of Gujarat is described as having offered herself of her free choice to *Mūlarāja*. This means, *I* suppose, that *he was not the direct heir to the throne*, but came by it through the influence of some leading men from the state. Of his exploits, his defeat of the *Lātas* under the command of their general *Bārapa* and the seizure *of his elephants and his fight with Laksha*, called *Lākha-Phulāni*, *are mentioned*.[2]

His successor was *Chāmundarāja*[3] His son *Vallabharāja*[4] succeeded him. He

1 The triumphal column is now gone One can still see the site of the lake The basin is all filled up, but the limits are visible. It seems it extended over several miles and presumably was used for agricultural and gardening purposes 2 *Vichāraśreṇi* of *Merutunga* assigns to the accession of *Mūlarāja* the date 1017 *Samvat* 3 This name is ommitted in *Vichāraśreṇi* 4 1052

was so brave that he won for himself the name of *Jagatkampana*. The next king was his brother *Durlabharāja*,[1] whose hand never fell on the wives of other people, and never on the wealth of *Brāhmanas*. His successor was *Bhīmarāja*,[2] his nephew, who always kept an efficient check on the king of *Mālvā*, but who spared his life though he had fallen into his hands. The crown descended after him to *Karna*,[3] whose fame reached far. His son was the well known *Jayāsimha*,[4] who subdued all kings. He defeated, in a battle. *Khengāra* of *Soreth*, whose bravery knew no bounds. He reduced to subjection the king of *Sindh*.[5] He conquered and again restored the kingdom of *Arnorāja*. The king of *Sākambhari* saw that the enemies of *Jayasimha* atoned for their enmity with him, with their lives and yielded to his power. He defeated the *Paramāra* king and took *Naravarman*, the king of *Dhara*, a prisoner, and took possession of his city. The king of *Mahobaka*,[6] taking a lesson from the fate of *Dhārā*, presented him with sums of money under the colour of his being a guest. His conquests extended in all directions. The *Gouḍa* country, celebrated for ghee, fell into his hands. He conquered *Barbbara*, the chief of Demons, and got the name *Siddharāja*.[7] His successor was *Kumārapāla*.[8] His valour was as great as his accomplishments. He is described as relinquishing the wealth of the deceased, by which, very probably, is meant that he extended the the right of succession to more indirect descendants than was allowed by the law then prevalent Among the kings whom he conquered were the *Jangala* king, and the kings *Ballāla* and *Mallikārjuna* of *Mālvā* and the Concan The fact of his having yielded to the influence of Jainism is described by the poet as his having made a vow, at the request of kings and beasts of the forest, not to take any life. His successor[9] was *Ajayapāla*. He forcibly wrested from the *Jangala* king, as a punishment, a gold *Manjapikā*[10] and his furious elephants. His return to *Hindu Orthodoxy* is described as his having given to *Brāhmanas* the earth after he purified by his weapons. He is described as daily marrying wives, daily giving gifts, and daily punishing kings His son was *Mūlarāja*,[11] who scattered the forces of the king of the *Turushkas*[12] He was succeeded by his brother *Bhīma*.[13] The kingdom of this simple king was divided amongst themselves, by his ministers and dependent kings. *Arnorāja*, a scion of another branch of the *Choulukya*[14] family, resented this act of spoliation, and began to establish the sovereignty of his house-again. He fought bravely all his life, and killed in his attempt at re-organising the kingdom which was broken up. His son, *Lavanaprasāda*, is described by the poet as being his (poet's) contemporary He conquered the king of *Nadula*. The king of *Dhārā* came to invade his dominions, but, finding him firm in his opposition, retraced his steps *Singhana*, the king of the southern country, whose army was numerous but personal valour limited, avoided hostility with him, as his personal valour was great, though his army was small His son, *Viradhavala*, was equal to

1 1066. 2 1078. 3 1120. 4 1150. 5 I am not sure सिन्धुपति means the king of Sindh, it may be a proper name. 6 Madanavarma 7 Those that keep in subjection evil spirits are called *Siddhas* 8 1199-Merutunga says that at the end of the reign of *Jayasimha* (*Kartik sudi tritiya 3*) there was an interregnum of 3 days *Kumārapāla* is described as the grandson of *Bhimadeva* through the male line 9 1232. *Dakhan Phālguna sudi* An interregnum of 33 months and 7 days after the death of *Kumārapāla* 10 Probably what is now called *Ambler*. 11 1234 *Chaitra Sudi Chaturthi* 12 Mahomedans 13 1236. 14 *Arnorāja* was the son of the sister of the mother of *Kumārapāla*. This line is called *Waghela* or *Vyāghrapalli* line

him in valour and risked his life in battles most freely One night *Lavanaprasâda* saw a strange dream in which he saw that the gurdian deity of the kingdom of *Pattana* came and threw a garland around his neck The king immediately sent for his son and his religious preceptor the poet and asked the latter what the dream meant He explained to him that it was an offer made to him by providence of the sovereignty of Gujarat and that he should immediately set about to establish his sovereignty over the country, which was at that time divided by powerful men among themselves As a preliminary step to this the king proposed to appoint some able minister to govern the country he had conquered No sooner did this idea suggest itself of the king than he thought of the two able brothers *Vastupâla* and *Tejahpâla* They were sent for immediately and when they came he explained to them how he wanted to re-establish the decaying power of *Pattana* He extolled their honesty and their abilities and told them that a conqueror could never get peace of mind unless there be at the helm of administration really able and trustworthy men He congratulated himself on having found two such able ministers and them to take up the responsible duties *Vastupala* then humbly expressed his joy at having been so fortunate as to be held in such high estimation by the king He ventured however to state that hard times had come when bad counsellors led proud kings by dangerous ways till both came to grief Further he stated that if the king would promise to be just and to control his passions and not to lend his ear to the insinuations of wicked persons if he would promise to rescue the kingdom from the oppression of the wicked then he would cheerfully obey his command If he had other views in his mind the proud minister said he would bid him farewell The king heard these words of the celebrated statesman and put into his hands the minister s seal [1] The minister having taken charge of his duties went to *Stambhatirtha* modern *Khambayat* pronounced by Europeans as *Cambay* He redressed many of the wrongs committed by previous governors During his administration low people gave up earning money by base means the wicked turned pale the righteous prospered All honestly carried on their businesses in security He put an end to piracy and stopped by constructing platforms the promiscuous mingling[2] of all castes in shops where whey of curds was sold. He was liberal in his gifts Even those who had been long dead come under his obligation because he repaired the public works left behind by them He planted groves of trees sunk wells and made public parks dug tanks built a city and erected innumerable other works of public utility He made no difference of caste or creed but treated all subjects equally While peace was thus reigning all over the kingdom *Singhana* the king of the *Dekkan* having heard of the prosperity of Gujarat ordered his army to make a depredatory excursion into the province The whole of the population was seized by consternation The king s army though small was strong and the father and the son *Lavanaprasada* and *Viradhavala* dauntlessly went forth and met the enemy when he had advanced as far as *Bhrigukatchha* (*Bharucha* or *Broach*) While these two warriors were thus engaged four kings from Marwad seized the opportunity and advanced against them Indeed the condition of the father and

the son was critical with a powerful invader in the front, and a combination of four hostile kings in the rear, any other prince would have lost courage To add to the embarassment of his position, the kings of *Godraha* and *Lāta* allied themselves with the Marwad kings and seceded from the camp, and left these two to themselves But *Vīradhavala* and *Lavanaprasāda* were equal to the occasion. They pursued with great vigour, at first, the army of the *Yadus*, but, when harassed in the rear by the combined kings, they turned their forces against them The southern army was so completely broken that it had not the courage to make any diversion again on the rear. While the king was thus engaged in a destructive war, *Śankha*, the son of *Sindhurāja*, sent an emissary to the minister, *Vastupāla* He extolled the bravery of *Śankha* as shown in his contest with *Yādavas* though unfortunately *Śankha* was taken prisoner in the contest Further, he stated that the town of *Stambhapura* was, by right of descent, his, as his ancestors had formerly held it. He also held out to him the hope of being made a governor of the town if he surrendered it to *Sankha*, and he ended by threatening him with an instant expedition Though *Vastupala*'s feelings of hope, fear and justice were thus appealed to, he remained firm He refused to surrender the town, and pleaded his king's right of conquest against the hereditary title of *Sankha*, and distinctly told him that he was quite ready to take the field if *Śankha* should have the audacity to declare war.

This defiance of *Vastupāla* swelled the tide of *Sankha's* anger, and he at once advanced to the side of a tank called *Vatakupa* (*Vadkuvo*) The minister defended with great bravery the town which he occupied After some time the minister attacked the position of *Śankha*, though his army was numerous When the battle commenced, *Bhuvanapāla* of the Gula family, on the side of the minister, assailed *Śankha*, who was also called *Sangrāmasimha*, but was himself attacked by *Sāmanta*, an ally of *Śankha* The two fought desperately, *Bhuvanapāla* slew *Sāmanta*, and proceeded against *Śankha Sankha* cut off his head in a single fight This sharpened the edge of the minister's anger The fight now became general, and several warriors were killed on each side At last *Śankha*, finding the minister invulnerable, withdrew his shattered forces, and retired from the field The minister led back his successful army, receiving congratulation of his subjects on the way. *Lāvanaprasāda* too, with his valiant son, returned to his capital, having repelled the southern invader on one side, and the combined forces of neighbouring princes on the other

In honour of this victory the citizens held a great festival to witness which and to make his obeisance to the goddess called *Ekallavīrā*, whose shrine was outside the town, the minister passed the principal street in the town The minister worshipped the goddess according to the proper ceremonies, and prayed to the goddess that she might always bless by her presence his own heart and his king's arm

The poet now proceeds to describe the sufferings and pleasures of the hot season, and the way in which the minister passed it–a noticeable fact, in which connexion is that a great part of the minister's leisure was spent in the company of literary men, among whom probably the author held a prominent position His gifts to these men are described as having been princely, and more than an adequate return for the pleasure which the men afforded to him The poet next proceeds to describe the evening and moonlight He employes the most fanciful

conceits in describing the pleasures of the citizens. Wine seems to have played a prominent part in helping the cause of Love. Giving for some time considerable freedom to his amorous muse, the poet winds up his account of revelry by a grand conceit describing the approach of dawn. As if to atone for the revelry of the previous canto, and by way of preparing the reader for his hero's pilgrimages, the poet introduces in the eighth canto a series of moral reflexions, which are very neatly and elegantly expressed. The canto concludes with a beautiful description of the beauties of autumn. The ninth and last canto is devoted to the description of the minister's visits to the holy shrines held in reverence by *Srāvakas*. One must keep before his mind's eye through how many different principalities of contending princes pilgrims had to pass, and how provinces were infested with marauding tribes, in order to be able to realize the importance which the poet attaches to the minister's having taken out with him a numerous band of fellow-pilgrims. In one of the *Prabandhas* the minister's retinue is described to have consisted of 4,500 carts, 700 palanquins, 700 carriages, 1,800 camels, 2,900 *Srīkarana*,[1] (?) 12,100 *Śvetāmbaras*, 1,100 *Digambaras*, 450 Jain singers, 3,300 bards. The author seems to have taken up for description, only two or three holy places visited by the minister. After mentioning generally that he made rich gifts to all shrines that he came across in his way, and made repairs and additions to temples, wells &c., where they were necessary, the poet proceeds to mention that he visited the shrine on the mountain of *Śatrunjaya*. He commemorated his visit to the holy mountain by building two temples–one for *Neminātha*, and another for *Pārśvanātha*. In the hall of this temple were placed the images of his ancestors and friends, and equestrian statues of himself and his brothers. From *Śatrunjaya* the minister proceeded to the mountain *Raivataka*, where he offered the best incenses to the shrine of *Neminātha*, and having lived here for many days, he went to *Prabhāsa Pattana*, and then worshipped *Siva*, known by the name of *Somanātha*. He took leave of the shrine of the great *Jina* at this place, and returned to his own city (*Pattana*). When he arrived there, he first paid his respects to his king, and then went to his own house. Having thus completed his pilgrimage, he duly honoured the men who had accompanied him on his pilgrimage and sent them to their own places.

Here the poet's narration ends. It seems strange that the poet should have ommitted to mention the famous temples on mount Abu. It cannot be said that the Abu temples were built later, that is, after the date of the poem; for the inscriptions in the temples on *Śatrunjaya* bear the date 1288, *Samvat*, while those in the Abu temples are dated 1287 of the same era. The *Praśasti* on these temples is composed by the author of this poem, and therefore the omission of the mention of the famous work from this panegyric seems the more strange. The only explanation that suggests itself to me is that the poet could make room for the description of one temple only, and he chose the *Śatraunjaya* temple, because the one on Mount Abu was built in the name of the wife and son of *Tejahpāla*, and may, in one sense, be regarded as a special work of *Tejahpāala*. It appears that *Someśvara*, though a friend of both the brothers, was a special favourite of *Vastupāla*. That is the only reason I can assign for no mention of the Abu temple being made in this poem.

1 May it mean a clerk ?

how the minister could do such a thing *Someśvara* offered to go and speak to *Vastupāla* The king consented *Someśvara* called upon *Vastupāla*, and explained to him how his rash act had roused all the *Jethuvās* *Vastupāla* said he was prepared for the worst, and did not care for his life *Someśvara* returned to the palace, and told *Vīsaladeva* that *Vastupāla* was prepared to die in defending himself He represented to the king how it would be noble to overlook one fault of a man who had rendered such singal services to the state He said that the minister's life was very valuable, and might be spared for some critical occasion The king relented. He asked *Someśvara* to bring *Vastupala* to the court He came, but fully armed for fight At his sight, the memory of all his obligations came to *Vīsala's* mind, and he humbly pacified his anger, behaving towards him with all the respect one would pay to his father He strongly censured *Simha* for having struck a servant of the *Śrāvaka* temple, and threatened to punish him severely Soon after this, the minister had an attack of fever In 1287 *Samvat*, when *Narachandrasūri* died, *he had predicted that 1298 Samvat would be the minister's last year The year had* come The minister made up his mind to go to *Satrunjaya* Before setting out on his last journey, he called the minister *Nagada*, and recommended the followers of the *Jaina* religion to his care The *Brahmana* minister promised to pay all respect to *Śvetāmbaras*, and told the minister not to be anxious on that account *Vastulpaa* started to go to *Śatrunjaya*, but became worse on the way, and died at the village of *Ankevalia* *Tejahpāla* and *Jayantsimha* the son of *Vastupala*, performed the obsequies on the *Śatrunjaya* hill, and built a temple on the spot called *Svargarohanaprasada*

V

The *Jaina* accounts of these ministers are naturally more detailed and faithful. There are some facts given therein to which a *Brahmana* admirer has naturally not given prominence. It is stated in those accounts that *Vastupāla* and his brothers were the fruit of the second marriage of their mother. The statement runs as follows - In the city of *Pattana Haribhadrasūri* a *Jaina* priest, while preaching once, constantly looked at a young widow who was exceedingly beautiful, and whose name was *Kumaradevi* One *Aśvaraja* remarked this, and, after the *Purana* was over asked him the reason He replied that the widow was destined to be the mother of sons who would be like the sun and the moon of the *Jaina* religion, *Aśvaraja* on hearing this, went to the father of the widow and entered his service In time he succeeded in ingratiating himself in the favour of the widow and her father, and married her The prophesy was fulfilled, and he became the father of *Vastupala* and *Tejahpala* and several other children According to these accounts, when *Vastupala* and *Tejahapāla* took up the ministerial duties, they made a condition that, at the termination of their office they should be allowed to retire with all the property they possessed at the time when they entered upon their office The impulse which led to the building of these temples is said to have been given by *Anupama*, the wife of *Tejahpala* When the ministers found they had amassed a good deal of wealth, they began to think how they could keep it secure Once while engaged in this deliberation they did not notice that it was growing late, and that the time of the evening meal had nearly gone *Anupamā*, after sending servants to remind them several times, came to them, and making them

leave their deliberation, asked them what they were thinking about. When they explained their difficulty to her, she told them that the best way to dispose of their wealth was to keep it on the top of mountains in such a way that every body could see it, but none could misappropriate it. She explained her meaning by stating that it should be devoted to the building of temples on mount *Abu*, *Śatruñjaya* and *Girinār*. The ministers listened to her advice, and proceeded to execute the plan. The *Prabandhas* say that the work on mount *Abu* was progressing very slowly, and the ministers being-dissatisfied with the men in charge, went to see the state of things for themselves. When they found it was too cold for the workmen to go and work, at the recommendation of *Anupamā*, they ordered that each workman should have provided for him a fire to warm himself with while he working, and that ready dinner should be provided for all the operatives in the evening.

The way in which *Vastupāla* and *Tejahpāla* became possessed of funds where with to raise these superstructures is, by the *Jaina* chroniclers, described as follows,- When *Vastupāla* was appointed governor of *Stambhatīrtha*, he found that a *Mohemedan* merchant, whose name was *Syed*, did not submit to his authority. He refused to see him and pay him homage, where upon *Vastupāla* declared hostilities with him. *Syed* called *Śankha* to his aid, *Vastupāla* defeated him in a battle, though his army was more numerous *Syed* was apprehended all his property was confiscated. When the victory and confiscation were reported to *Lavanaprasāda*, he ordered that all valuables should be credited to the account of the state. *Vastupāla* had reported that the merchant was so rich that even the dust in his house-गृहरेणु (which probably meant trifling things) was of great worth. The prince assigned the 'dust' to *Vastupāla*. Shortly after this, some of the ships of *Syed* took fire, and, it is said, a large quantity of valuable metals was reduced to रेणु dust, which, by the king's order, became the property of *Vastupāla*.

In *Vastupāla charita* of *Harshagani*, it is mentioned that when they went to a place, in *Kathiavad*, called *Hadālaka* to bury under-ground the wealth they had obtained, they found, when they dug into the earth, an immense treasure. Some say they applied this to the building of temples and other public works by the advice of their mother. Others say that while the brothers were once consulting as to what they should do with their money, they heard a *Jaina* ascetic recite the following verse :-

[1]कोशं विकासय कुशेशय संश्रितालौ, प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ते ।
दोषोदये निबिडतामरसप्रतापे, ध्वान्तोदये तव शशिन्यपि कः समीपम् ॥

1. The meaning of the verse is not very clear I understand it as follows -Oh lotus, since it is the daytime, favourable to you, open your bud and show love towards the bee that seeks your resorts, at night who will come near you when it will be dark, or when the rays of the moon will inflict upon you severe pain.

Several words in this verse have a double meaning In addition to the meaning assigned in the foregoing translation, कोश means a treasure. संश्रितालौ means on the class of proteges. दोषोदये, when an accusation is brought, निबिडतामरसप्रतापे may mean when the oppression caused by the exactions of the king is great. Consequently, the verse suggests the idea that a man should open his treasure and be kind to the poor about him while his prosperity lasts. No one will come near him when he is in difficulty and harassed by the accusations and demands made by the king.

When they heard this verse, and revolved in their mind the double meaning it conveyed, they thought it was a providential warning expressly given to them and foreseeing the loss of royal favour, devoted their money to charitable purposes. It appears from the Prabandhas that *Vastupala* associated very much with *Brâhman* Panditas This brought on him the remonstrances of *Vijayasenasûri*, their father's priest, which, being strongly supported by their mother, made them turn the current of their charity more towards the *Jaina* religion

The society of learned Hindoo Panditas is described as having affected *Vastupâla's* religious opinions to a very great extent One of his *Jaina* biographers states that he had even put on the *Anantadoraka*[1] *Vijayasenasûri*, who always used to *complain of Vastupâla's Hindoo tendencies to his* mother pointed this out as a proof his assertion This brought matters to a crisis At the bidding of his mother *Vastupâla* cut off the *Anantadoraka* and began to abide strictly according to the advice of his hereditary religious teachers

I shall briefly state here some of the important facts detailed in the *Chaturvinśatiprabandha* with regard to *Vastupala* and *Tejahpala* and their chiefs

Soon after *Viradhavala* and his minister *Tejahpala* had commenced their victorious career they went to *Wamanasthali* to conquer the ruler of the place The two young Rajputs, named *Sangana* and *Chamunda* the brothers of *Jayataldevi* the wife of *Viradhavala* refused to submit *Jayataldevi* who knew the power of her husband, advised them to avert hostilities by making homage and rich presents to *Viradhavala* but the proud brothers would not listen In the desperate fight which ensued *Viradhavala's* life was in imminent and both armies raised the cry of his being killed but all of a sudden *Viradhavala* appeared mounted on his famous horse *Uparavata* and accompanied by the follower of his army proceeded personally against *Sangana* and *Chamunda* The two brothers manfully met him and both were slain The wealth for which *Wamansthali* was celebrated the hoarded treasures of generations fell into the hands of the king

Once three Rajaputs *Samantapala* *Anangapala* and *Trilokasinha Bhayats* of the king of *Jabalipur* came and offered their services to *Viradhavala* *Viradhavala* was pleased with their address and bravery but on being told that their terms were a lack of coins (*Dramma*) of *Lûnasapuri* told them that a thousand warriors could be maintained by that sum and that he had no need for their services *Vasupala* and *Tejâhpala* requested the king to secure their services stating as their reason that men were more valuable then money but the king paid no attention to the advice and dismissed them The offended Rajaputs went to *Bhimasinha* the king of the sea coast town of *Bhadreśvara* with whom *Viradhavala* had already declared war on his having refused to render submission *Bhimasinha* at once accepted their terms and entertained their services At their instigation he sent a fresh defiance to *Viradhavala* and appointed *Panchagrama* as the place of the combat The two ministers told the king that his enemy *Bhimasinha* had strengthened his hands by securing the services of the three Rajaputs but assured

1 *Anantadoraka* is a silk cord knotted in a prescribed way with certain spells pronounced over it t is supposed to represent god *Vishnu* The day fixed for its worship is the fourteenth of *Bhâdrapada* The cord is kept on the arm by some during the whole year

him, at the same-time, that they were still more than a match for *Bhīmasinha's* army, and that they should set out at once for the place appointed for the battle On the night before the battle the three Rajaputs sent a word to *Vīradhavala* that he should keep in readiness for his protection the numerous soldiers he had kept by the three lacks of coins which he had refused them The king politely replied that the next day's fighting would decide the question In the battle which ensued the three Rajaputs broke through all those that defended *Vīradhavala*, and pointed their spears at his forehead, but spared his life in consideration of the *Viḍā* they had eaten at his court However, *Vīradhavala* was thrown from his horse *Uparavata*, who was seized by the three Rajaputs The fighting for the day ceased, but *Vīradhavala* was none the worse for the casualties of the day The ministers of *Bhīmasinha* advised him to make peace *Bhīmasinha* sent back *Uparavata* to *Vīradhavala* Peace was made By and by *Vīradhavala* became more powerful, and having conquered *Bhīmsinha* destroyed his power

There was a king named *Ghughula*, who reigned at *Godraha* in the district of *Mahītata* He seized the goods of the merchants who came to trade with Gujarat *Vastupala* and *Tejahpala* sent messengers to remonstrate with him, and advised him to abide by the commands of *Vīradhavala* *Ghughula* in return sent a box of eyewash and a pair of women's clothes to him, to show that he regarded him, along with other kings, as no better than his mistresses *Vīradhavala* called together his chiefs, and asked if any one would offer to undertake an expedition against *Ghughula* *Tejahpāla* alone offered to go He went and stationed his army at a distance from *Godraha* He detached a small number of soldiers to go into the proximity of the town and seize the cows of the cowherds When the cowherds came to the town to complain of it, *Ghughula* went at the head of a small force to punish the offenders The minister's soldiers feigning a flight, drew *Ghughula* towards the minister's army *Ghughula* did not perceive the manœuvre until he came face to face with the minister's army Without losing courage, he sent a word to his chiefs to come to his succour, and commenced fighting at once He succeeded in dispersing the minister's army, but *Tejahpāla* with seven Rajaputs determined to conquer or to die, and held fast The example encouraged the worsted soldiers to return to the fight *Tejahpāla* forced his way up to *Ghughula* and challenged him to a duel The challenge was accepted The minister threw *Ghughula* from his horse, and took him alive He was confined in a wooden cage and sent to the king All his wealth was seized *Vīradhavala* caused the box of eyewash, which *Ghughula* had sent to be tied around his neck with a string, and he was made to wear the pair of clothes he had sent Unable to bear this disgrace *Ghughula* killed himself by biting off his tongue

Chaturavinśatiprabandha says that the victory over *Ghughula* enabled *Vastupāla* to extend the sway of *Vīradhavala* to the borders of *Mahārāshtra*

The same *Prabandha* also mentions that *Vastupāla* was directed to proceed against *Sultan*[1] *Moujadin*[2] Being forewarned that the army of the *Sultan* was going to enter by side of the *Abu*[3] mountain, he directed *Dhārāvarsha*, the king of

1 This word is Sanskritised and written as [illegible]
2 *Muizuddin Bahramshah*
3 The warning is said to be given by [illegible]

Abu who owed allegiance to *Viradhavala*, to keep himself in a state of readiness He advised him to let the Mahomedans pass southwards, and then close the mountain passes against their return The plan succeeded The Mahomedans being attacked by *Vastupāla* in the front, and pressed by *Dhārāvarsha* in the rear, became panic-stricken The slaughter which ensued was great Cart-loads of their heads were sent to *Viradhavala* at *Dholka*

Some years after this the mother of *Moujadin* started on a pilgrimage to *Mecca* Having heard this news from his messengers, he ordered his sailors to take possession of all her property and bring the same to him This being done, the captain of the ships employed by Moujadin s mother came and complained to *Vastupāla* that pirates had robbed the property of an old Mahomedan lady, their passenger On their stating further that she was the mother of *Moujadin*, *Vastupāla* received her with the greatest respect, and feigning to have caught the pirates restored the property to her He showed her every mark of respect, and provided most carefully for her comfort and safety On her way back to *Delhi*, she insisted upon *Vastupala* s accompanying her With the permission of *Viradhavala*, *Vastupāla* went to Delhi He was received there with great honour He obtained from the emperor a promise to keep friendship with *Viradhavala*, and, for himself, five large pieces of marble, of which he caused statues to be made to be placed in Jaina temples On his return *Viradhavala* received him with great pomp and distinction *Merutunga* in his *Prabandhachintamani* says it was not *Moujadin* s mother, but his religious preceptor who led to the formation of friendship between him and *Viradhavala* Merutunga further says that *Vastupāla* saved the emperor s preceptor from the violence of the father and the son, *Lavanaprasada* and *Viradhavala*, as a sheep from two foxes Such are the principal facts which may be gathered from Jain compositions

It seems clear from the account given in this book and several inscriptions of the time that *Lavanaprasada* and *Viradhavala* though they had cast *Bhimadeva* into shade had not yet formally assumed the title of the kings of *Pattana* [1] As is often the case among the Hindus, those who actually attain high power by the strength of their arm rather take a pride in keeping formally their former status and rendering cheerfully, or even boastfully, submission to the hereditary monarch who has it no longer in his power to compel it by force It may well be illustrated by the attitude of the First Maratha conquerors towards the Emperor of *Delhi* and that of the *Peshwas* towards the *Maharājās* of *Sattara* The *Peshwa* held a grand *Durbar* at *Poona* for the assumption of the title which *Sindia* had obtained for him from the fallen emperor of *Delhi* and no *Peshwa* ever assumed authority without going through the form of obtaining the robes of state from *Sattara* However, those who succeed these great men by right of birth have not got for their satisfaction the true glory of personal achievements, and they become impatient of the acknowledgment of fictitious subordination By this time the old dynasty also has generally lost its hold on the affections of the people and a public assumption of sovereign power by the new line does not give much offence to any

1 One of the *Prabandhas* says that *Vastupāla* proposed to *Viradhavala* that he should assume the title of *Mahārāja*, but *Viradhavala* did not approve of it He said he was contented with his title of *Rāṇaka*

one Thus, it would appear that *Visaladeva* put his foot on the step from which *Lavanaprasada* and *Viradhavala* kept themselves back half out of chivalry and half out of policy In the grant of *Visaladeva* the title *Maharajadhiraja* is applied to him though up to his time the kings of the house of *Pattana* alone were considered as entitled to it The last mention I have found of the king of *Pattana* is in connection with *Lavanaprasada s* having asked for money in a friendly manner from *Bhimadeva* There is no mention anywhere of any actual hostility between the house of *Dholka* and *Pattana* *Bhimadeva*, though personally valiant, seems to have allowed himself quietly to be superseded by his ambitious kinsmen first in actual power and then in rank

VI

In concluding this introduction it remains for me to acknowledge that the publication of this book is entirely due to Doctor G Buhler He lent me two manuscripts one A, a copy of some old manuscript made for him, and another B, which he had borrowed from Mr Javerilal Umiaśankara He also handed over to me a portion of the poem copied out by him for the press and obtained the permission of the Director of Public Instruction for the inclusion of this Publication in the Bombay Sanskrit Series Besides, I am indebted to him for pointing out most of the sources of information which I have embodied in these pages In fact but for him I should not have been able to do the little I have done For the third manuscript I got later on, I am indebted to Mr Vrajalal Shashtri of the Gujarat Vernacular Society All the three manuscripts seem to be copies of the same original manuscript the differences they show being generally due to the varying intelligence or rather ignorance of the copyists

GUJERAT COLLEGE,
21st September 1883

A V K.

Professor G. BÜHLER's critical study of THE SUKRITASAMKIRTANA OF ARISIMHA

(TRANSLATED FROM THE GERMAN OF THE LATE PROFESSOR G. BÜHLER, C.I.E., LL.D., VIENNA BY E. H. BURGESS, UNDER THE DIRECTION OF JAS. BURGESS, C.I.E., LL.D.)

Published in the INDIAN ANTYQUARY, Vol. XXXI (1902) (Pp. 477-495)

[The paper, of which the following is a translation, appeared in the *Sitzungsberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol. CXIX., 1889), and some copies of it were struck off in a separate form, chiefly for distribution to friends. There are many scholars, both in Europe and India, who are interested in the subject of the paper but are not familiar with the German language, to them the following translation is offered in order to make its contents accessible.—J.B.]

In my *Report on the Search for Sanskṛit* MSS., 1879-80, p. 5, I announced the discovery of *a historical poem* which bears the title *Sukṛitasaṁkirtana*, and was composed by *Arisimha* in honour of his patron, the Jaina *Vastupāla*, who served the *Vāghelā* prince *Rānaka-Vīradhavala* of *Dholkā* and his son *Vīsaladeva* as minister from *Vikrama-Samvat 1276 to 1296 or 1297*. Although since then, by the publication of *Someśvara's Kirtikaumudi*, the most important source concerning the origin of the power of the Vāghelā dynasty of Gujarāt, has become generally accessible, yet a discussion of the contents of *Arisimha's* poem will not be superfluous. *For this touches on* several *details about which Someśvara is silent*, and gives new and in part valuable accounts of other incidents. The manuscript which I have used for the following examination is No. 302 of my collection in the library of the India Office. This was copied in August 1880 from the same original in Ahmadābād from which No. 415 of the Dekhan College Collection of 1879-80 was taken; and it was then carefully collated with No. 411 of the Dekhan College Collection of 1880-81. It is therefore, — with the exception of the confusion between the sibilants, between *a* and *i*, *ra* and *ṛi*, as well as *ta* and *tha*, — pretty free from errors, and text is almost throughout easily intelligible.

THE CHARACTER AND ARRANGEMENT OF THE WORK

The *Sukṛitasmkirtana* is, as the inscription of each canto intimates, a *Mahākāvya* or artistic poem, composed according to the rules of prosody, and it contains 11 Sargas with 553 verses. Five verses at the end of each Sarga are due not to Arisimha but to Amarapandita. It says, I. 46-"In this work which *Arisimha* composed, *Amarapandita* wrote these four last verses canto by canto."† The number

† The German original is accompanied by the Sanskrit text of the passages that are translated in this paper.

refers to the preceding four verses 42 45 and the fifth which is repeated at the end of each Sarga is not reckoned These verses have no close connection with the contents of the preceding parts The first three either contain general praises and blessings upon Vastupala or mention incidents not described by Arisimha The fourth always names Arisimha as the author of the work and praises his poetic skill

The titles of *the separate cantos* are as follows

I —*Chapotkatanvayavarnana* Description of the Chapotkaṭa dynasty (of Gujarat), 46 verses principal metre Vasantatilaka

II —*Chaulukyanvayavarnana* Description of the Chaulukya dynasty (of Gujarat) 56 verses principal metre Upajati

III —*Mantriprakaśa* Appearance of the ministers, 67 verses principal metre Anushṭubh

IV —*Dharmopadeśana* Instruction in the holy law, 49 verses principal metre Rathoddhata

V —*Samghaprasthana* Departure of the (Jaina) congregation 55 verses principal metre Vamśastha

VI —*Suryodayavarnana* Description of the sunrise 40 verses principal metre Malini

VII —*Satrumjayadarśana* Visit to Śatrumjaya 48 verses principal metre Svagata

VIII —*Sri Nemidarśana* Visit to (the shrine of) the divine Neminatha 48 verses principal metre Pramitakshara

IX—*Shadritu varnana* Description of the six seasons of the year 56 verses principal metre Drutavilambita

X —*Purapraveśa* Entrance into the town (Dholkā) 47 verses the metres vary every two verses or still more frequently

XI—Enumeration of Vastupala s buildings 41 verses principal metre Vasantatilaka

Besides the metres already mentioned the following also occur in single verses Ārya Indravajra Upendravajra Pushpitagra Manjubhashinī Mandakranta Śardula vikridita Śikharini and Sragdhara Amarapandita usually begins his first verse in the metre with which Arisimha ceases In spite of the pains both poets have taken with the versification it often happens that the first and third foot of a verse stop in the middle of a simple word And although the really distinguished poets often use the weak cæsura by ending the first *padas* of a half verse with one part of a compound yet they avoid dividing simple words This abuse first occurs in later poetasters The more difficult feats of art like Pratilomānuloma Gomutrika etc neither Arisimha nor Amarapandita has tried On the other hand there are numerous *anuprasas* or alliterations and—although more seldom—even *yamakas* or rhymes As for the diction one easily perceives the zealous striving to vary the turnings of the classical models and to find new expressions or figures The result is not a brilliant one however and the *Sukritasamkirtana* nowhere rises above the level of the mediocre At some points one may doubt whether the

He answered 'Om' Then the king said 'Recite something suitable to the occasion'. Thereupon Arisimha recited four verses in which he praised Visaladeva's sword The prince was so charmed that he bestowed a permanent appointment and a high salary upon the poet Soon afterwards the salary was doubled because he sang in a masterly manner of a blade of grass which the king held in his hand

Like the records of most of the *Prabandhas*, this one also contains, besides what is undoubtedly correct, much that is not so In the first place it is true that Amarachandra wrote a work called *Padmānanda* Peterson found it and bought it for the Bombay Government (see *First Report*, p 126, No 265) From the extracts given there from the Cambay Library MS, it appears that it bears also the title *Jinendracharita* and is a *Mahakavya* containing 12 Sargas (*cf* also Peterson, *loc cit* p 58)

The statement, then, that *Arisimha* was the teacher of *Amarachandra* in the fine arts agrees with the contents of the above second verse of the *Kavyakalpalatā* The reverential way in which Amarachandra expresses himself in his verses about Arisimha speaks for the same thing

I 45 —"Arisimha, a lion for his elephant-like opponents composed this work, which like the glances of the ever-gracious Vastupala, dispenses rivers of nectar"

VIII 48 —"This work, a flood of beams from the moon of the face of Lavanyasimha's son, which draws off the swarms of bees from these waterlilies, the faces of the unworthy, produces, mighty waves in the milk-ocean of fame of the excellent minister and prince Vastupala[1]

Only a pupil speaking of his teacher, or a client of his patron, would express himself thus

On the other hand, the *Prabandha* is incorrect in stating that Amarapandita and, through him, Arisimha came to the court of Dholkā only during the reign of Visaladeva, circa Vikrama-Samvat 1296 to 1318 For soon after Vīsaladeva's accession *Vastupāla* lost his high position and died as Narachandra had prophesied, in the Vikrama year 1298[2] From the *Sukritasamkirtana* it is apparent, however, that it was written when the minister was in the zenith of his power This is proved, for instance, by two verses at the end of the first and second cantos -

I 42 —"Daily, illustrious prince of the council Vastupala the Brahmanas cry blessings on you "Long may you live!' —the bard princes "May you attain the age of Brahma!"—and noble women "May you never grow old and be immortal!' But I will also say something "May you rejoice in your life as long as your far-reaching fame dances in the sky'

II 52—"Heavenly (wishing) cow, (paradise) trees, (wish-fulfilling) precious stones! Why hide ye yourselves in the tottering rocks of the divine mountain

1 The swarms of bees are the admirers who formerly hung upon the lips of the bad poets but now turn to Arisimha

2 *Kirtikaumudi* pp xviii xix *prabandhakoska* p 288 – *Śrī Vastupālo jvarārugleśena podilastejahpālam sputrapautrain svaputram cha jayan lasimhabhāshata*

Vatsah Śrī Narachandrasūribhirmaladhāribhih 1987 varshe Bhādrapada Baas 10 aine diva gamanasamaye vajamuktah

Mantrin 1268 svargārohaṇam bhavishyati |

(Meru)? Adorn the earth, nobody demands you! May the illustrious minister Vastupāla alone live for ever!"

It is hence certain that both poets stood in close relation to the minister who served Vīsaladeva's father, and their connection with him, according to the last verse, is scarcely doubtful For when an Indian poet praises the generosity of his hero in the above manner, it is a certain sign that he has either experienced the same or hopes to do so There are, however, a number of other passages which make it still clearer that Amarachandra and probably also Arisimha belonged to Vastupala's suite of poets which the *Prabandhas* often mention The next verse, II 54, ought to suffice to convince the most incredulous It says —"Poverty has resignedly deserted so completely those men who continually rejoice in praising Vastupāla that she, indolent in spite of the command of the gods, does not even cross the threshold of their neighbours' houses " That is to say, in simple prose, that the singer and other poets were well paid by *Vastupala* If one must accept from this that Rājaśekhara places the prime of Amarachandra and Arisimha too late,[1] it need not therefore be concluded that they had no connection with *Visaladeva* It is very possible that they kept themselves in favour at the Court of Dholka after Viradhavala's death and the fall of Vastupala

As *the exact date of composition of the poem* we need not be content to ascribe it merely in general to the period of Vikrama-Samvat 1276-1296 or 1297, during which Vastupāla occupied his high position It will be seen later, from the comparison of his statements concerning Vastupala's buildings with the inscriptions, *that it was probably written about the Vikrama year 1285 It is probably some* years younger than the *Kīrtikaumudi* The *Sukritasamkirtana* seems never to have found much esteem even with the Jainas Neither Rājaśekhara in the *Prabandhakosha*, nor Jinaharsha in the *Vastupalacharita*, quotes it, although the latter gives long extracts from older sources Both follow Someśvara's *Kirtikaumudi*, the greater fame of which put the poem of the less distinguished Arisimha in the shade Its author Arisimha is perhaps mentioned in Sāmgadhara's *Paddhati*, where a verse of a certain *Arasi-Ṭhakkura* No. 76 (Peterson's edition), is mentioned Arasī stands for Arisi, and is a quite correct Prakrit form of Arisiṁha (see *Ueber das Nava-sāhasānkacharita* p 39), which is still frequently used in Gujarāt The identity of the two persons is, of course, by no means proved by the similarity of their names but is only a possibility

NOTES ON THE HISTORY OF THE CHAUḌAS AND CHAULUKYAS

The first Sarga, which contains the genealogy of the Chāpoṭkata or Chauḍā kings, gives the following names —

I — *Vanarāja*		Verses	1–26
II — *Yogarāja*	...	"	27–28
III — *Ratnāditya*	...	"	29–30
IV — *Vairisimha*		"	31–32
V — *Kshemarāja*		"	33–34
VI — *Chamunda*	...	"	35–36

1 As a further proof of this it may be mentioned that the Cambay MS of the *Padmānanda-Kāvya* was written in the Vikrama year 1297

VII — *Rahada*	..	Verses	37–38
VIII — *Bhūbhata*		,,	39–41

The verses dedicated to these kings contain almost nothing but conventional flatteries in which no historical events are mentioned *Vanaraja* and *Bhūbhata* are the only exceptions As regards the first, it is mentioned in verse 9 that he founded the city of *Anahilapātaka* or Anhilvad, and verse 10 that he built there the temple of Pañchāsara-Pārsvanatha Both statements are found in most of the later Jaina *Prabandhas*, and are therefore of no special interest On the other hand, the statement, verse 41, that *Bhūbhata* ruled the earth long, is of some significance and also the arrangement and number of the Chauda kings For both entirely disagree with the statements in Krishnāji s *Ratnamālā*, in some MSS of Merutunga's *Prabandhachintamani*,[1] and in later works, like Jinamandana's *Kumarapālacharita*, Jinaharsha's *Vastupālacharita*, and Dharmasagara s *Pravachanaparikshā*

All these works recognise only seven instead of eight Chāudā kings, whose succession differs from the above, and they ascribe to the last a reign of only seven years On the other hand our list is almost identical with that contained in Merutunga s *Theravali*,[2] and in the Bombay edition of the *Prabandhachintamani*, pp 35–38 [3] In the *Therāvali* there are differences only with regard to the names of the seventh and eighth kings The former is called not *Rāhada*, but Thaghada or Ghāghada and the latter not *Bhubhata* but Puada Puada is doubtless a clerical error for Bhūyada or Bhuvada which is the usual Apabhramśa form for Bhubhata in the *Prabandhas* Instead of Thaghada or Ghāghada, *Rāghada* is to be read, which may be the same as *Rahada* if the original form of the name be Raghavabhata [4] The edition of the *Prabandhachintāmani* has the form Akada, which differs still more strongly On the other hand it gives for Bhubhata the form *Bhūyada*,[5] which one expects

The reign of this last prince extended to 19 years according to the Therāvali, whilst the *Prabandhachintamani* edition gives even 27 The latter number would, of course, agree best with the expression *chiram*, ' long ' In comparison with the apparently more authentic traditions of Krishnaji (which moreover, have been printed from bad MSS) the statements of the *Theravali* have hitherto received no consideration The narrative of the seven Chāuḍa kings the last of whom is said to have been murdered after a seven years' reign by *Mūlaraja*, his sister s

1 Thus No 296 of my collection and Bhāu Dāji s MSS Jour *Bo Br R A Soc* Vol IX p 157

2 See *Jour Bo Br R A Soc loc cit*

3 The passage is in parenthesis in the edition Also the narrative which follows in the text shews that the MS which forms the groundwork differs considerably from the other known ones

4 It is quite possible to find for the seventh Chāudā king in the *Sukritasamkirtana* a name which comes very near the Ākada given in the published edition of the *Prabandhachintāmani* We can divide I 37 *prabalaśatrujalah śaśaṅkaśrirāhur ahada iti* by which means the form Āhaḍa is obtained This much may be said for this division that we gain thereby a construction exactly corresponding to that in verses 27 31 35 etc and also that the word Āhaḍa which might stand for the Sanskrit Āhavabhata (compare Āhavamalla) would be quite a suitable epithet for a king Nevertheless I hold it probable that the name was Rāhada for I do not believe that the poet would have lighted upon the alliteration *rahurāhadaḥ* if the name had not begun with *rā* Then the certainly corrupt forms Thāghada and Ghāghada tend to prove that the initial was a consonant

5 Or Bhūyagaḍa

son and of the Chaulukya prince *Rājī* is unhesitatingly accepted though it contains the absurdity of Rāji s marriage having taken place and his son having grown up within these seven years [1] It is plain from Arisimha s statements that the *Vicharaśreṇi* does not stand alone in its representations but rests upon older traditions Since Krishnāji s *Ratnamālā* is perhaps as old as the *Sukṛtasaṃkīrtana* the two contradictory accounts of the Chāuḍā kings existed at least in the thirteenth century and probably earlier still It must be left to the future to establish their real history when authentic documents are found For the present we must be content with the conclusion that the version current in India through Forbes s *Rās Mālā* has no particular claim to be received and was not uncontested in the tradition

The notes about *the Chaulukya kings* in Sarga II are considerably fuller Of the first king *Mūlarāja* it is related that he particularly venerated Somanatha and it is said verse 3 Which hero (Mularaja) plainly proving his veneration prostrated himself every Monday before Somanatha and obtained great splendour and fame from the hot flames out of the eye on the forehead of that god

Possibly Arisimha knew the absurd legend of the *Prabandhachintāmaṇi* p 43 according to which Mularaja made a pilgrimage every monday to Somanathapaṭṭana near Veraval until the god to please the king settled first nearer Anhilvād in *Mandali* or Mandal and at last came even into the capital Mularaja s worship of Śiva is proved besides by his presentation of land The following verse 4 seems to refer to the erection of the Tripurushaprasada in Anhilvad From among the military undertakings of Mularāja the victories over *Barapa* and *Laksha* king of Kachh are mentioned The former is made a general of the king of *Kanyakubja* Of the next king *Chamuṇḍa* vv 8 9 Arisimha has nothing positive to say On the other hand a victory of *Vallabharaja* over the king of Malva is celebrated in verse 13 and in verse 14 the remark is made that Vallabha had the *biruda* of *Jagajjhampana* which does not occur elsewhere The *Kirtikaumudi* which also mentions the probably apocryphal victory II 11 gives him the *biruda* of *Jagatkampana* It says of *Durlabharaja* vv 15 16 that he was very modest and was ashamed when his court poets compared him to Krishna In the *Kirtikaumudi* also Durlabha is praised for this virtue Of his successor *Bhima I* we are told only that he conquered the celebrated king *Bhoja* of Dhārā This statement agrees again with that of the *Kirtikaumudi* II 15-16 and also with those of the later *Prabandhas* whilst it does not occur in Hemachandra s *Dvyaśrya* Bhima s son *Karna* vv 20 23 is praised for his beauty mentioned also by Hemachandra in the *Prasasti* to his Grammar verse 17 in the *Ratnamala* and in the *Kirtikaumudi* II 21 Then Arisimha states that Karna conquered the king of Malva and brought home from there a statue of *Nilakantha or Śiva* It says verse 23 Who (Karna) conquered the king of Malva with his army and truly brought with him Nilakantha the fame of him for whom the number of paths through the river on the head of this god was multiplied he extended in the three worlds

Most *Prabandhas* and even Hemachandra s *Dvyaśraya* mention no kings during Karna s reign The latest discoveries however shew that this silence is by no means justified Bilhana s drama *Karnasundari* which was found by Paṇḍit

1 I first drew attention to this atrocious nonsense in the *Indian Antiquary* Vol VI pp 181 182

Durgaprasad and published in the Bombay *Kavyamala* speaks of a fortunate war with the Muhammadan princes of Sindh and Ghazani Since Bilhana was in Anhilvad during Karna's reign, and probably made an unsuccessful attempt to become the court poet of that king, his statement deserves credit Then Someśvara Arisimha s contemporary, narrates in the *Surathotsava*,[1] found by Dr Bhandarkar that his ancestor *Âma*, house-priest of king Karna, compelled an evil spirit (*krtiya*) raised by the house-priest of the king of Dhara to kill its originator The reason why the Paramara prince's priest sought to destory the Chaulukya ruler was that the latter had invaded the dominion of Malva Somesvara then without hesitation confirms Arisimha s assertion and we may accept it as a fact that the feud between Malvā and Gujarat did not rest during Karna s reign

Of *Jayasimha s* deeds it is related vv 23-38 that his cavalry bathed their horses in the Ganges (v 32), that the 'air walker *Barabaraka* carried him about in the atmosphere (v 33) that he took prisoner *Yaśovarman*, king of Dhara (v 34) that he had the tank called *Siddhasaras* dug (v 35) and a high pillar of victory (*kirtistambha*) built (v 37) All these points are sufficiently known It is only of interest that Barbaraka has here, as also in most of the other *Prabandhas* become a purely mythical being Verse 36 speaks of Jayasimha s worship of his mother, and alludes indeed to the narrative (*Prabandhachintamani*, p 133) according to which the king at the request of Mayanalladevi remitted a tax imposed on pilgrims going to Somanathapattana by the officials at *Bahuloda*

Verses 39 43 referring to *Kumarpala* first praise the favouring of the Jaina religion by this king who abolished the confiscation of the goods of tradesmen dying without male heirs and caused *Vihars* to be built in every city[2] Then his victories over the *Jangaleśa* i e *Arnoraja* of *Sakambhari* or Sambhar and over the *Kaunkana emperor* i e the Kadamba king *Mallikarjuna* who ruled over the *Konkan* (*Kirtikaumudi* II 47 48) are celebrated With respect to the latter, Arisimha gives a note which contradicts Someśvara s reports but shews on the other hand that the representation of the later *Prabandhachintamani* is correct It says verse 43 What is wonderful in this strong one s (Kumarapala s) conquering even the Jangala princes seeing the ruler of the marshland the Kaunkana emperor, was defeated by his very tradesman (*banij*)?

Someśvara in the *Kaumudi* ascribes both victories to the king himself in the *Praśasti* of Tejahpala s temple at Abu (vv 35-36) on the other hand the first is ascribed to the Paramara *Yaśodhavala* and the second to his son *Dharavarsha* Merutunga on the other hand records in the *Prabandhachintamani* p 201 ff that the Śrimāli Vania Amrabhata son of the counsellor Udayana[3] advanced twice against the king of the Konkan At first he suffered defeat but in the second campaign he is said to have slain Mallikarjuna

Kumarapala s successor is called in verse 44 Ajayadeva instead of *Ajayapala* This form of the name is also found elsewhere (see *Ueber das Leben des J M Hemachandra* S 55 note 6) Like all *Prabandhas* the *Sukritasamkirtana* mentions

1 *Report on the Search* etc 1883-84 p 20

2 See Bühler *Ueber das Leben des J M Hemachandra* Ss 39-40

3 See *Ueber das Leben des J M Hemachandra* S 9 and note 28

with praise that the king sent him as a tribute from *Sapâdalaksha* in Eastern Râjputana a golden *mandapikâ* i e a little ornament in the form of a *mandapa* or pillared hall Not less known is the victory which (v 46) Ajayadeva's son *Mûlarâja* II gained over the Turushkas i e over *Muhammad Shahâbuddîn Ghori* The Muhammadan authors (see Elliot History Vol II p 294) confirm this information which is found also in the *Prithvîrâjavijaya* (*Kasmir Report* pp 62 63)

Much more important is that part of the work (Sarga II 48 57 Sarga III, 1 62) which follows next relating to *Bhîmadeva II* representing his relation to *Lavanaprasâda* and his son *Vîradhavala* the Rana of Dholka and stating how *Vastupâla* became minister to the latter Arisimha gives an account here which differs markedly from Someśvara's narrative in the *Kîrtikaumudî* It will therefore be as well to give the most important verses of this part word for word

II 48 Now his (Mularaja's) brother, the illustrious *Bhîmadeva* whose invincible terrible arm like the post of a gate destroyed all his ememies wears amulet of the sphere for which the shores of the ocean furnish the pearls

49 His whole life long he held fast to the reflection This seat of the gods (Mount Meru) ought not to disappear through my liberality which lasts but for a moment and so he abstained from uprooting the golden mountain (Meru) in order to distribute gifts of gold

II 50 That beggars always experienced his liberality we hear from the songs of the pleasure seekers (nymphs) who settled in the neighbourhood of his palace on the gold mountains terraced for pleasure in the belief that these were spurs of Mount Meru

51 *Bhîma* the husband of the earth whose entire riches had disappeared through continual and too liberal gifts whose brilliant glory had departed whose kingdom was bit by bit violently devoured by the barons —ate his inmost heart out in long accumulated cares

III 1 All at once the prince whose whole possessions had become small saw in a dream at the end of the night a glorious and splendid god

12 Thereupon the god poured upon the lord of the earth who was as it were the root of the creeper of his love the nectar waves of his eloquence as follows —

13 I thy grandfather[1] king *Kumârapâla* who have won the bliss of heaven through the laws of Arhat am come because I love thee in thy misfortune

14 Son I will give thee a proud governor of the kingdom through which thou obtainest great glory as fire does by wind

15 The great armed Arnoraja son of the illustrious *Dhavala* was an elephant in the forest of the *Chaulukya* stem an eagle for the serpents his enemies

16 This man of adventurous spirit who was the cause of my glory was made by me whose heart he won by his courage lord of the city of *Bhîmapallî*

---

1 If Kumârapâla calls himself Bhima's grandfather the expression as is often the case with the indication of grades of relationship is very likely only indefinitely used For Kumârapâla was according to all the *Prabandhas* the great-uncle of Bhima whose grandfather's name was Mahîpâla. (see Forbes's *Râs Mâlâ* p 153)

19 "When evil councellors opposed thee, this strong one made thy accession the means of repaying my favour for ever

20 "His son is *Lāvanyaprasāda*, whose arm, brandishing the sword — one would think it was his tongue — prepares to destroy his enemies in fight "

23 ' If thou make this ornament of the sphere lord of all (*sarveśvara*) thou wilt become the husband of Fortuna and rest in happiness like Vishnu in the Ocean

24 ' He has a son *Vīradhavala*, who for the sake of the battle wishes to perform again the oath of the descendant of Bhṛgu (Paraśurāma) to destroy the Kshatriya-race "

27 "Give this strong-armed one, whose shining toe-nails have become jewels on the heads of hostile kings, the rank of heir to the throne (*yauvarajya*), and thyself wilt rule yet a long time

28 "Still more! save thou the Jaina faith which helped me to attain unhindered to the fields of heaven, and which now almost sinks into the Kali-(period)"

29 When the king heard this, he embraced smiling the lotus-feet (of the god) as if he wished to hold in his hands the Fortuna that lives in the water-lilies

30 Honouring him graciously, the god, lovingly attached to him, laid his hand which resembled the Lotus, the house of the Kamalā, on his head

31 When in the morning the sound of the trumpet announced the sunrise to the ruler of the world, sleep, which closed his lotus-eyes, departed, like the night which closes the eye-like water-lilies

32 When the prince saw with astonished gaze the light of the lamps, (he said) 'There is indeed visibly a god!' and then quickly he left his bed

33 Then the husband of the earth who had accomplished the duties of the morning, visited his hall, whose thick buttresses of jewels streamed forth rich splendour.

35 The ruler caught sight of the devoted barons among the company, shining like sparks of their courage

36 The father and the son whom the god pointed out, the king anointed lords over all, with his eyes which were like nectar-jars

III 37 Thereupon the king directed joyfully this gracious speech before the nobles to *Lāvanyaprasāda* -

38 "Through thy father, the terror of his enemies I was set up (*as king*) in this kingdom do thou therefore increase my diminishing prosperity

39 "Accept from me, thou great in war, the rank of a lord over all, Vīradhavala, who shines in virtue shall be my successor '

40 Thus requested by the king, himself worthy to be entreated in a matter in which they ought to have been the suppliants, the two spake joyfully 'Your Majesty's command is law to us

41 Laying his hollow hands together as if he held in them the fluttering butterfly (Fortuna), *Vīradhavala* turned again towards the husband of the earth (and said) -

42 "Master, I am in need of an adviser without one, the brave lion springs at the thunder-cloud, taking it for an elephant and suffers a great fall

43 "Give me such a counsellor, distinguished by extraordinary virtues, acquainted with the use of weapons, with books, with the acquisition of wealth and with battle"

44 Greatly delighted by this speech which was like a stream of nectar poured out to invigorate the liana — (creeper) of his happiness, the master of the world thought a little and then said

45 "Once upon a time was *Chandapa*, fiery in his splendour, a branch of the ever-fresh liana of fame of the distinguished *Prāgvāta* lineage, a servant (of the king) in this realm

47 "His son, named *Chandaprasada*, was furnished with skill and affability,....

49 "To him was born a son named *Soma*, who flooded the firmament with his glory.

50 "Who had no master but king *Siddha* and no god but the lord of the Jinas

51 "His descendant *Āśvarāja* made the universe splendid with his glory he who accomplished seven pilgrimages to escape the seven hells

53 "His beloved wife was *Kumāradevi*, who, though the first among the Jina-believing (women), worshipped the husband of Gauri

54 "To these two were born three sons, whose power made their enemies tremble ...

55 "First among them, *Malladeva* is famous a treasury of wisdom he who obtained autocracy in his kingdom by the will of his preceptor

56 "His younger brother is the wise *Vastupāla*, a dwelling-place of the fine arts, whose feet the later-born *Tejahpala* daily worhsips

57 "These two like wands to whirl about the ocean of deeds, like paths leading to conjunction with Fortuna I will give you for counsellors but they protect their friends"

58 As *Viradhavala* rejoiced at this speech, the husband of the earth called to these two sons of one mother who bowed their heads, (and said) —

59 "May you who alone have crossed the ocean of state affairs, be clothed with the dignity of counsellors of the great *Viradhavala*

60 "His courage will attain to sight if you serve him as eyes unceasingly vigilant may he trample down all my enemies

61 "Yet more — may you two, who hang on the feet of the Jina prince, like bees on a lotus, glorify the faith in the lord of the Jinas this great wish of king *Kumarapala*, which he entrusted to me in a vision, must of necessity be fulfilled"

62 When the king had given these instructions, to which a good invisible god called out his approval — falsely taken for the echo from the vault of the audience chamber, — he gave over the two to the heroic *Viradhavala*'

If we compare this narrative with that given concerning events by *Someśvara* in the *Kirtikaumudi*, a considerable difference, especially in the rôle allotted to

Bhīma II, is unmistakable According to Somesvara's representation, the Gūrjararājalakshmi, the Fortuna or protectress of the kings of Gujarat, appeared in a dream to Lavanaprasāda, the Rānā of Dholkā, and called upon him, with the help of his son, to save the kingdom which had fallen into decay in the unskilled hands of Bhīma [1] Someśvara further states that he himself was called before Lavanaprasāda on the following morning and asked concerning the meaning of the vision He convinced his master, he assures us, that he was appointed by Providence to save his fatherland and induced him to obey the command of the goddess [2] Thereupon Lavanaprasāda entrusted to his son the execution of the duty laid upon him [3] A short time afterwards, Vastupāla and Tejahpāla were appointed his ministers '[4] If we reject the mythological additions in this record, which Someśvara, as a good court poet and artist, held himself bound to put in, it merely says that *Bhīma* was a weak and unskilful ruler, and that *Lavanaprasāda* and *Vīradhavala* made use of his weakness in order to found a kingdom of their own To this understanding we are led particularly by the circumstance, the Somesvara, in the description of the kings of Anhilvād, expresses himself by no means respectfully concerning Bhīma II, when he says (*Kīrtikaumudī*, II 61) "Powerful ministers and barons gradually divided the kingdom of this young and foolish (*bālasya*) ruler,' and elsewhere again (*ibid* II 4) he gives the king the same not very complimentary epithet *bāla* On the other hand, there is nowhere a question of Lavanaprasāda's service, and in the numerous inscriptions in the temples built by Vastupāla and Tejahpāla on Girnār and Ābū, and in other places, any mention of the suzerain of Gujarāt is entirely wanting On the other hand in the Girnār inscriptions, which were written V S 1288, ten years before Bhīma's death, *Vīradhavala* receives the title of Mahārājādhirāja, as if he were an independent ruler Such a disregard of the forms which Indian etiquette prescribes for Vassal-princes and their servants, shews that *Bhīma* did not stand in great esteem at the court of Dholkā, and that he was not powerful enough to force from Lavanaprasāda and Vīradhavala the respect due to him In spite of this it was probable, before the discovery of the Sukritasamkirtana, that Someśvara s account did not quite correctly represent the true relation of his master to Bhīma II For Merutunga says in the *Prabandhachintāmani*, p 250 (Bombay edition), quite clearly, — । श्रीमद्भीमदेवराज्य चिन्ताकारि व्याघ्रपल्लीयसद्वतप्रसिद्ध श्रीमदानाकनन्दन श्रीलवणप्रसादश्चिरं राज्य चकार ।[5] — 'the administrator of the illustrious Bhīmadeva, the illustrious Lavanaprasāda, son of the illustrious Ānāka (Arnorāja) surnamed *Vāghrapallīya* (Vāghelā) ruled a long time' This note led me in my first discussion of Someśvara s works (*Indian Antiquary*, Vol VI 187 ff) to suppose that Lavanaprasāda was for a time in *Bhīma* s service, and that he only later, — when Bhīma s folly, to this day proverbial in Gujarat, his arrogance and extravagance, convinced him that there was no help for it, —

---

1 *Kīrtikaumudī* II 89-107

2 *Kīrtikaumudī* II 83-86 108-113

3 *Kīrtikaumudī* II 114-115

4 *Kīrtikaumudī* III 51 compare also II 112 where Someśvara accentuates to his lord the necessity of appointing capable advisers

5 The edition and Mss of my collection write evidently incorrectly *Vyāghrapallīyah Lavanaprasāda* is the reading of I O L B S MS No 296 instead of the *Lavanasākhaprasādah* of the published edition

undertook *to found a kingdom of his own As the date of this defection* I *thought* proper to fix the Vikrama year 1276, in which according to the Girnar inscriptions, *Vastupāla* was appointed minister Arisimha's account, which, coming from a contemporary, possesses as much authority as Someśvara s, confirms only a part of these suppositions, whilst he makes it necessary to modify another part of the same We learn from him that *Bhima II*, through his inability to keep the vassals in order and through various difficulties, was forced to seek help and support, and that he himself chose his relative The choice was prompted partly by Lavaṇaprasada s personal qualities, the description of which agrees with that of other sources partly through his father Arnoraja s having (v 18 above) already done important service to Kumarapala and having been helpful to Bhima himself in obtaining the throne (vv 19 and 38 above) The title *Sarveśvara* Lord over All which Lavanaprasada according to Arisimha s representation received has much the same meaning as Merutunga s expression *rajyachintakarin* and hints that Lavanaprasada s position was a very independent one The further statement that Viradhavala was at the same time named heir to the throne (*Yuvaraja*), takes for granted that Bhima had no sons Nor do the *Prabandhas* make any mention of such It must however, be remarked also that neither is Viradhavala s appointment anywhere mentioned In any case it remained without practical consequences, for Viradhavala died several years before Bhima Also in the statement that Bhima gave the brothers Vastupāla and Tejaḥpala to his Sarveśvara for counsellors Arisimha stands alone Someśvara says nothing particular at all as to how the two Jainas acquired their dignity In the third Sarga of the Kirtikaumudi he gives first a description of their genealogy which agrees with that given by Arisimha (vv 45 46 above) and adds (vv 51 and 52) that the two at once occurred to the prince who desired to win able men he considered their great qualities and then sent for them Further on his address and Vastupala s answer are given in full without however, affording any possibility of learning *anything from them of the earlier circumstances of the latter The later Prabandhas* Rajaśekhara s *Vastupālaprabandha* and Jinaharsha s *Vastupālacharita* state that the brothers had come accidentally to Dholkā on their return from a pilgrimage to Satrumjaya and were immediately engaged by Lavanaprasada and Viradhavala who had just seen the supernatural appearance mentioned by Someśvara These Statements like a great deal more seem to be borrowed directly from the *Kirtikaumudi* and are hence of no value Someśvara s representation is however certainly defective for he leaves it uncertain how Vastupala and Tejaḥpāla had so distinguished themselves that Lavanaprasada could take them for suitable instruments for his plans On the other hand if one accepts as Arisimha hints (vv 57 and 59 above) that they had both been already in the royal service this difficulty disappears The probability of these statements is also supported by the circumstance mentioned by Someśvara (*Kirt* III 14) and by Arisimha (v 50 above) that their grandfather *Soma* had held a high position under Jayasimha In the case of the brothers having been in royal service however Bhima s consent was naturally necessary to their entering Lavanaprasada s service Thus we must declare Arisimha s account to be more worthy of credit We can only doubt whether Vastupala received his appointment at the same audience at which Lavaṇaprasāda was appointed *Sarveśvara* The date of the former event is fixed as already

mentioned, by the *Girnār inscriptions*, where it is repeatedly said that, from the (Vikrama) year (12)76, in Dholkā and other cities, he sealed "affairs with the seal.' [1] The acceptance of Arisimha's statements makes it, of course, necessary to reject the suppositions expressed on a former occasion (*Indian Antiquary*, loc cit) that the appointment of Vastupala and Tejahpala marks the period when Lavanaprasāda deserted Bhima and began to found a kingdom of his own

The *new discoveries made since 1877* render it doubtful whether the *Sarvesvara* or his son ever was unfaithful to his master It appears rather as if *Lavanaprasāda*, in his relation to the latter, although he practically ruled independently over the southern part of the Gurjara kingdom, yet conducted himself at least outwardly as a vassal, and that Professor V A Kathvate is quite justified in comparing[2] his relation to Bhīma with that of the Maratha Peshvas to the court of Sātārā Of special significance for this point is the *Lekhapanchāsika*[3] discovered by Dr R. G Bhandarkar, which, as he correctly acknowledges, was composed in the Vikrama year 1288, that is, twelve years after Vastupāla s appointment as minister and during Bhima's reign. This little work gives formulæ for letters and documents of different kinds Among the latter there is a gift of land, dated V -S 1288 in which the *Mahamandalesvarādhipati*, 'the great overlord of the tributary princes,' Rāṇā Lāvanyaprasāda, is named as giver Befor his name stands the whole genealogy of the Chaulukya kings of Anhilvad, and it is remarked that, by the grace of his master Bhima II, he possessed the *Khetakahārapathaka* 'district of *Kaira*'[4] Then the same work contains, as an example of a state treaty, an agreement of the same date between the *Mahamandalesvara* Rana Lāvanyaprasada and Simhana (Singhana), the *Mahārājadhiraja* of Devagiri, in which both contracting parties respectively promise to respect the other s boundaries, to keep peace and to help each other Although the first of these two documents is evidently nothing more than a formula, and of the second nothing can be certainly proved as to whether it is a copy of a real treaty, yet their value remains considerable Then, as the author of the *Lekhapanchāsika* was a contemporary of Lavanaprasada, we may take for granted that he describes the political relations in general correctly We may believe him on the one hand that in the Vikrama year 1288 Lavanaprasada was authorised to make treaties with foreign princes and consequently possessed a high degree of independence On the other hand we must admit that if Lavanaprasāda at that time made gifts of land he employed the form ordinarily used by tributary princes and acknowledgod the overlordship of Bhima If this be correct, there can be no question of a defection on the part of Lavanaprasada, at least until V -S 1288 The relation must rather have been as Arisimha gives it Lavanaprasāda stood higher than all other rulers of districts, and governed the kingdom of his master in the strength of the trust committed to him However free and high may

1 *Arch Reports of Western India* Vol II p 170 Vastupāla calls himself in this and in corresponding passages in other inscriptions *Sarvesvara* his brother on the other hand *Mahāmātya*

2 *Kirtikaumudi* p xxv

3 *Report on Search for Sanskrit MSS* 1882-83 p 28 ff and p 222 ff

4 This should be written p 223 for *khetakārāpathake* and p 224 for *khetakadhārāpathake* As in other passages of the formulary the expression is incorrect For *āhāra* originally corresponded approximately to the modern *zillā* and *pathaka* to *tālukā* Moreover similar combinations of the two expressions are found in real presentations of land in later times.

have been his position, he had not become a rebel The confirmation, which Arisimha's statements receive through the *Lekhapañchāśikā*, make it advisable, in the representation of this period of the history of Gujarāt to trust him more than the insinuations of Someśvara

In concluding the discussion of this part of the *Sukṛitasamkirtana, the mythological clothing* must still be mentioned In the treatise by Zachariae and myself on the *Navasahasankacharita*, p 48, I shewed that the court-poets often deemed it suitable, at crises in the history of their heroes, to make the gods actively interfere When Arisimha then makes the spirit of Kumarapāla descend from the fields of heaven to move Bhima to the appointment of Lavanaprasāda as his *Sarveśvara*, it is not difficult to see what moved him to make use of this *deus ex machina* Kumarapala was well known as the adherent and protector of the Jaina faith After his death a Brahman reaction took place under Ajayapala and though Ajayapāla reigned only a short time, the Jaina sect seems not to have regained its former importance under his sons Mularāja and Bhima II Only when Vastupāla and Tejahpāla became ministers in Dholkā did it again raise its head Both belonged to one Jaina family and were filled with great enthusiasm for their religion They spent a great part of their rich incomes on the erection of temples, asylums and benevolent institutions, so that at least the outward lustre of the Jainas was restored Arisimha tried to unite the two prosperous periods of his sect by representing Kumarapala as the intellectual originator of the second In doing so, he has not refrained from putting words into king Bhima's mouth which he certainly never spoke, when he makes him call upon Vastupāla and Tejahpāla (v. 61 above) 'to glorify the belief on the lord of the Jainas ' According to all we know of Bhima, he favoured exclusively the Brahmans, and especially the Śaivas, to whom he made many presents To excite Vastupāla s enthusiasm for his faith was, however, absolutely unnecessary

VASTUPĀLA S PILGRIMAGE TO ŚATRUMJAYA AND GIRNĀR

In the fourth Sarga Arisimha turns to the description of the *Sukṛita* of pious works of *Vastupala*, by which he adorned the Jaina religion First he mentions shortly that Viradhavala, with the help of his minister, soon 'conquered the ocean-girt earth and put down all wrong and violence (vv 1-7) Then he relates how in that happy time Tejahpala came to his brother, praised his successes, and advised him to keep in mind the king s command and support the Jaina religion (vv 8-13) Vastupala agreed and declared he would at once visit his spiritual director to hear his preaching and begin his works of piety according to his advice (vv 14-26) On this occasion the succession of the monks of *the Nagendra gachchha* is gone over, which, since the time of *Chandapa* had served the family as spiritual advisers The names are precisely the same as those in the *Praśasti* of Tejahpala's temple on Mount Abu[1] - (1) Mahendrasuri (vv 15 16) (2) Śāntisūri (vv 17-18) (3) (a) Ānandasuri and (b) Amarasuri (who received from king Jayasimha the title of honour *Vyāghraśiśukau*, the young tigers,' because even in early youth they were able to withstand proud disputants resembling fiery elephants (vv 19-21) (4) Haribhadrasuri (vv 22 23) and (5) *Vijayasena*

1 *Kirtikaumudi* App A pp 9-10

(Vastupāla's spiritual counsellor, vv. 24-26). Next we are told how Vastupāla went into the monastery with his brother and offered his homage to Vijayasena. The sermon following by the latter (which fills vv. 33-43) commends, as the most meritorious undertaking, a pilgrimage, and extols, as happy above all others the *samghādhipati*, the leader of pious pilgrims. The consequence is naturally that Vastupāla resolves to undertake a pilgrimage of the congregation to the holy places in Kāthiavad

The fifth Sarga then describes (vv. 1-6) the preparations for this journey. *Vastupala*, it says, sent letters to the believers in every town to invite them He visited personally the monks in the monasteries and invited them respectfully. For those who responded he cared in every way Whoever had no carriage, he gave him one, whoever wanted provisions for the journey, got them, and for those who had no servants he provided them Medicines and physicians also were not forgotten, so that those who sickened by the way might have assistance When all preparations were complete, he had himself solemnly consecrated by his Guru as *Samghādhipati*, and set out 'surrounded by a wonderful army of carriages' (vv. 7-8) In verses 10-13 the names of some distinguished monks who took part in the pilgrimage are mentioned —Narachandrasūri, Jinadattasuri of the Vāyaṭa gachcha, Sāntisuri of the Sanderaka gachcha, and Vardhamānasūri 'the sun of the Gallakas' In Kāsahrada, which is probably identical with the modern Kāsandra or Kāsandhra near Gāmph,[2] a halt was made, and (v. 16) a great festival was instituted in the temple of Ṛishabha Of other stations by the way nothing is said. The Sarga closes with the arrival of the pilgrims at the foot of Mount *Satrumjaya*, where Vastupāla pitched a great tent-camp (v 41) and distributed rich presents, especially of provisions, to all in want He cared not for himself, it says, until he had assured himself by means of his heralds that no one wanted anything.

After, in the sixth Sarga, a conventional description of sunrise, which in a *Mahākāvya* must not be wanting, there follows in the seventh the description of *the ascent of the mountain* and the festivities engaged in there The ascent took place on the morning after the arrival The first shrine which the pilgrims reached was that of the Yaksha Kapardin (v 12) Vastupāla offered his homage and celebrated him in a song of praise (vv 13 16) Then he hastened to *the temple of Ādināth*a, whither the pilgrims followed him in crowds (v. 17) Still covered with the dust of the way, Vastupāla fell down outside before the lord of the Jainas (v. 26), and praised him in a hymn (vv. 27-33) Only then did he purify himself, the pilgrims following his example, and then he entered the Chaitya with them amid the performance of dances and songs (vv 34-37) Thereupon he washed the image, as the rule prescribed, with saffron-water, rubbed it with musk, and wreathed it with flowers The pilgrims burnt at the same time so much incense that the temple was wrapped in thick darknsss And at last the *ārātrika* was performed, numerous lamps being swung to and fro before the statue (vv 38-42)

2 Instead of *karada* tank *draha* occurs in the Prākṛit so that Kāsadraha would correspond exactly to the Sanskṛit Kāsahrada The further corruption conforms to the rules of Gujarati phonetics Kasandra lies (see *Trig Surv Maps Guj Ser Nr 82*) in 72° 14 E long and 22° 19'N lat., pretty nearly on the direct route from Dholkā to Pāhtānā. In the text Kāsahrada is called a *pattana* 'a town The modern Kāsandra is a village of about 400 inhabitants.

The following verse 43 tells us that the stay on the mountain and the worship lasted eight days[1] Then the prince of counsellors, after bestowing rich gifts upon the monks, descended from Mount Śatrumjaya performed the auspicious ceremonies for the journey and longed to bring his homage to the divine Neminātha on Girnar

According to Sarga VIII 1, the procession did not go directly to Junāgadh, but first to *Devapattana or Somanātha* on the south coast of Sorath 'There he, who possessed terrible power, worshipped the conqueror of Kama, the (god) characterised by the moon, he who is beautiful to look upon,' i e Śiva-Somanātha Soon, however, the ocean, 'pure through its shell mark and blue as the *indranila*-stone,' reminded Vastupāla, by these its qualities, of Neminātha (v 10) and drove him to go further Mount *Raivataka* (Girnar) came in sight, and it seemed to the minister as if the creepers of its woods swayed by the wind, performed a joyful dance in honour of the arrival of the holy congregation (v 11) This sight inspired Vastupala to a song of praise (vv 12-16) After his arrival he had a camp pitched at the foot of the mountain and celebrated the arrival by a festival On the next morning the pilgrims ascended Girnar (v 28) The description which now follows of the worship of Neminatha (vv 29 42) is only a repetition of the scenes in the temple of Ādinātha In conclusion, it says that the halt on Girnār lasted, like that on Śatrumjaya, eight days It is worthy of note that Vastupāla, on leaving, is said to have offered his homage to the Brahman gods Ambā, Sāmba, Pradyumna, and the rest, who had temples on the mountain

The ninth Sarga is like the sixth, a purely poetical addition without any historical element whatever It gives a description of the six seasons, which the prince of the wise, whose wishes were fulfilled, saw on the slopes of the mountain

The tenth Sarga is occupied with the return of the congregation from Girnār to Dholka Immediately after the descent Vastupala gave the pilgrims a magnificent banquet and distributed rich gifts among them (vv 1 5) Then he set out for *Vamanasthali* the modern Vanthlī on the way from Junagadh to Devapattna, and made a solemn entry into the town Formerly it was forbidden to Jaina pilgrims to enter the city Vastupāla, however, had 'the godless writing destroyed (v 6) Concerning the further course of the journey, all that is related is that in every village incense was offered to the Tīrthamkaras (v 7) When the procession reached the neighbourhood of Dholka, not only Vastupāla's relations, but also Viradhavala, with the citizens, came out to meet him In the midst, between the Rāna and his brother Tejahpāla "like a Śiva represented in the manner of the Tripurushas (v 11) he entered the town amid the praises of the bards (vv 14-29) and the passionate expressions of joy of the women (vv. 31 42).

Vastupala s pilgrimage is mentioned in *the inscriptions* in his temple on Girnār as well as in Someśvara's *Kirtikaumudī* The inscriptions[2] state quite briefly that

1 This note found also in Jinaharsha s *Vastupālacharita* has a particular interest because Jaina pilgrims never pass the night on the mountain now

2 J Burgess *Archaeolog Survey of Western India* No 2-Memorandum of the Antiquities at Dabhoi etc. p 22 l 4 ff p 23 l 11 ff etc and *Arch Report Western India* Vol. II p 170

सं० ७७ वर्षे श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्तप्रमुखमहातीर्थयात्रोत्सवप्रभावाविर्भूतश्रीमद्देवाधिदेवप्रसादासादितसंघाधिपत्येन श्रीवस्तुपालेन ।

The same date V S 1277 is rightly given by Merutunga in the *prabandhachintāmaṇi* p 254.

"Vastupāla, in the year 77 (V S 1277), attained the dignity of a Samghādhipati or head of the congregation by the grace of the illustrious over-god of the gods, who, in consequence of the mighty working of the festive pilgrimage undertaken to Śatrumjaya Ujjayanta (Girnār) and other shrines, revealed himself" Someśvara, on the other hand, dedicates the whole of the last Sarga of his poem to the pilgrimage, and his description of it agrees on the whole with that given by Arisimha Yet there are the following differences The halt in Kāsahrada is not mentioned It is said on the other hand (*Kirt* IX 19,20), that the route followed by the minister could be traced by means of the restored old temples of the Jinas and the freshly dug tanks, as also that the pilgrims offered homage in all the temples to which the procession came On *Śatrumjaya*, Vastupāla stopped according to Someśvara (*Kirt* IX 36) only 'two or three days' In spite of this, it is said immediately before (IX 30-36) that he presented a flag of yellow-white stuff to the temple of *Ādinātha*, that he built two temples to *Neminatha* and *Parśvanātha*, and had a large tank dug It is not doubtful that the last two notes refer to a later time Further on in the course of his report Someśvara (IX 66-69), places the visit to *Girnār* before that to *Devapattana* or *Prabhasa* (IX 70-71) He states also that Vastupala was 'many days' on Girnār, and that in Devapaṭṭana he worshipped, besides Śiva-Somanatha,[1] the Jaina Tīrthamkara Chandraprabhu Probably this contradiction is explained in that two visits to Devapaṭṭaṇa took place Arisimha hints at this when he says the pilgrims went to Vāmanasthalī on their return-journey Vāmanasthali or Vanthli lies about nine miles south-west of Girnar and on the direct road to Devapaṭṭaṇa. Whoever travels by Vanthlī on the return from the Girnār cannot readily take any other way afterwards towards the mainland of Gujarāt than that which leads from Devapaṭṭana first along the south and then along the east coast of the peninsula This seems to have been in early times the ordinary route for caravans and pilgrimages [2]

VASTUPĀLA S BUILDINGS AND PIOUS INSTITUTIONS

The eleventh and last Sarga begins with the statement, that *Vastupāla*, after he was made lord of the town of *Stambhatirtha* by Vīradhavala began to build temples (*Kirtanāni*) which resembled embodiments of his fame on earth, and in verses 2-31 forty-three buildings, restorations and institutions of different kinds are enumerated This list is much more modest than those which occur in the later *Prabandhas* of Rājaśekhara and Jinaharsha It contrasts also advantageously with the absurd boastfulness of the Girnār inscriptions, in which it is said[3] that Vastupāla and Tejahpāla caused new places of religion (*Dharmasthānāni*), i e temples, asylums abodes for the performance of perpetual vows, tanks and so on, to the number of ten millions (*kotiśah*) and also caused very many restorations to be made Arisimha gives the following details —

I — In *Anahilapurī* or *Anhilvāḍ-Pātan* —

1 The restoration of the temple of Pañcāsara-Pārśvanātha which Vanarāja

1 The worship of Śiva unfitting for a Jaina, is also admitted by Jinaharsha—I *Char* VI 535

2 In the *Vastupālacharita* VI 515 ff the way is more minutely described and the stations between Śatrumjaya and Girnār are (1) Tāladhvaja or Talājā (2) Koṭinārī or Koḍīnār (3) Devapattana and (4) Vāmanasthalī

3 *Arch Rep Western India* Vol II p 173 1 5 transcription

(p 65 above) had caused to be built (Ś XI 2) With this agrees Jinaharsha in the *Vastupālacharita* VII 66, where it is added that the building took place when Vastupāla visited Paṭan after a battle against the Muhammadans at Ābū, which he won by the help of Dharāvarsha of Chandrāvatī Muhammadan authors mention nothing of attacks upon Gujarat in the first half of the 13th century At the same time it is possible that during or after Shamsuddin Altamsh's expedition against Ranthambor, A D 1226 [1] parts of the victorious army may have come as far as Ābu and attempted an invasion of Gujarāt If Jinaharsha's note be correct we may perhaps accept that the restoration of the temple in Anhilvāḍ took place in the year A D 1226 or 1227

II — In *Stambhatirtha* or *Cambay* -

2 The erection of a golden *i e*, a gilded, flag staff and knob on the temple of Bhīmeśa (Ś XI 3) The *Vastupālacharita* (IV 720) gives the same note, and has, instead of the vague *ketu* (literally "banner"), the plainer expression *dhvajadanda*

3 The erection of an Uttanapaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head (Ś XI 4) The Vastupalacharita IV 719, speaks of an Uttānapāda (?) in the temple of Bhaṭṭaditya The technical meaning of Uttanapaṭṭa is unknown to me

4 The excavation of a well in the temple-grove (*pūjanavana*) called Vahaka of Bhattarka (Ś XI 5)

5 The erection of a *mandapa* or vestibule overlaid with stucco (*sudhāmadhura*) before the temple of the sun-god called Bakula (Ś XI 6) The *Vastupālacharita* (IV 721) speaks of a *rangamandapa* or painted vestibule before the temple of Bakulasvāmideva.

6 The restoration of the *mandapa* and of the temple of Śiva-Vaidyanātha (Ś XI 7) The *Vastupalacharita* (VI 718) says more plainly [2] ,—"The temple of the god Vaidyanātha, together with the *mandapa*, he made new again to the everlasting safety of his king"

7 The erection of high walled enclosures for the sale of sour milk (*takra*, Ś XI 8) Both Someśvara (*Kirt* IV 17) and Jinaharsha (*V Char* IV, 716) mention this The *uchchaihpada* or *vedībandha* must, as Prof A V Kathvate in the notes to the *Kirtikaumudi* says have been erected for the purpose of protecting the wares from contamination by people of low caste

8 9 The erection of two asylums (*upāśrayas*) for Jaina monks (Ś XI 9) Someśvara (*Kirt* IV 36) speaks of many *paushadhaśālās*, which Vastupāla caused to be erected in Cambay

10 The erection of a drinking hall with round windows (*gavāksha*) on two sides (Ś XI 10) Someśvara (*Kirt* IV 33) again speaks of many such

III —In *Dhavalakka* or *Dholkā* -

11 The building of a temple of Ādinātha (Ś XI 11) According to *V Char* III 457, this temple was called Śatrumjayāvatara

1 Elliot, *History of India* Vol II P 324

2 वैद्यनाथस्य देवस्य मन्दिरं मण्डपोत्तरम् । श्रेयसे निजभूभर्तुस्तेने येन पुनर्नवम् ॥

12-13. The erection of two asylums (*upāśrayas*) for Jaina monks (Ś. XI. 12).

14. The restoration of the temple named Rānaka of Bhattāraka (Śiva) (Ś. XI. 13).

15. The construction of a *vāpī* or a square covered water-reservoir (Ś. XI. 13).

16. The erection of a pump-room (*prapā*) (Ś. XI. 14).

IV. — At *Śatruṁjaya* near *Pālītānā* -

17. The erection of an *indramaṇḍapa* before the temple of Ādinātha (Ś. XI. 15): compare *V. Char.* VI. 630.

18-19. The erection of a temple of the Jina of Ujjayanta, *i.e.*, of Neminātha, and of a temple of the Jina of Stambhana, *i.e.* of Pārśvanātha (Ś. XI. 16). Someśvara (*Kīrtikaumudī* IX. 31-33) and Jinaharsha (*V. Char.* VI. 631-632) also mention both temples, and the former calls the two Jinas by the usual names.

20. The erection of a statue of the goddess Sarasvatī (Ś. XI. 17). Neither Someśvara nor Jinaharsha mention this. It is, however, probable, for Vastupāla says, in the Girnār inscriptions,[1] that he erected in Girnār a *praśastisahita-Kaśmīrāvatāra-Sarasvatīmūrti*.

21. The erection of statues of his ancestors (Ś. XI. 18), compare also *Kīrtikaumudī*, IX. 34, and *V. Char.* VI 633. According to the latter passage, these statues, as well as those named further on, were set up in the temple of Pārśvanātha. This statement agrees with the actual state of things found in Tejaḥpāla's temple on *Ābū*, where the statues stand in an annex (*balānaka*, *Kīrtikaumudī*, App. A., v. 61) to the right of the adytum.

22. The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejaḥpāla, and that of Vīradhavala (Ś. XI 19). With this, Jinaharsha (*V. Char.* 633-634) agrees entirely, Someśvara (*Kīrtikaumudī*, IX. 35) says the three personages were on horseback, which is certainly a mistake.

23-26. The erection of sculptures representing the four mountain summits consecrated to Avalokanā, to Ambā, to Śāmba and to Pradyumna (Ś. XI. 20). Jinaharsha says (*V. Char.* VI. 631) that these sculptures were found in the above-mentioned temple of Neminātha.[2] The four peaks might be those of Mount Girnār, now named after Ambā, Gorakhnāth, Dattātreya, and Kālikā Mātā: compare also the Girnār inscriptions, *Arch. Sur. Rep. W. Ind. Loc. cit.* 1. 6, and above p. 76.

27. The preparation of a *toraṇa* before the temple of the Jinapati, *i.e.*, probably of Ādinātha (Ś. XI. 21). Jinaharsha (*V. Char.* VI. 629)[3] speaks of a *toraṇa* over the western door of the *indramaṇḍapa*, which last stood before the temple of Ādinātha.

28-29. The erection of temples of Suvrata of Bhṛgupura or Broach and of Vīra of Satyapura or Sāchor (Ś. XI. 22).[4] Jinaharsha (*V. Char.* VI. 636-638) says the two temples stood right and left of the temple of Ādinātha, and that

---

1. *Arch. Report W. Ind., Loc. cit.* 1. 6.

2. [illegible]

3. [illegible]

4. Sāchor now belongs to Jodhpur in Rājputānā, and lies to the North-East of Thārād. It is still a holy place of the Jainas and famous for its temple. It is in 24° 41' N. lat., 71°33' E. long.

the first was built for the welfare of Vastupāla s first wife Lalitadevī, and the other for the welfare of the second Saukhyalata or Sokhukā

30 The erection of a *pṛsthapatta* i e of a tablet behind the statue of Jina (Ādinatha?) of gold and precious stones which seemed to give the statue a halo (*bhāmaṇḍala*) (Ś XI 23)

31 The raising of a golden *torana* (Ś XI 24)[1]

V — In the neighbourhood of *Padaliptapura* or *Palitana* –

32 The excavation of a large tank (*sarah* Ś XI 26) mentioned also by Someśvara (*Kirtikaumudī* IX 36) and by Jinaharsha (*V Char* VI 677) In the latter passage it is added that the tank lay near Vagbhaṭapura the place built by Kumarapala s minister Vagbhaṭa and bore the name of Lalitasarah in honour of Vastupala s first wife

33 The erection of an asylum (*upaśraya*) for Jaina monks (Ś XI 27)

34 Of a pump-room (*prapa* Ś XI 28)

VI — In the village of *Arkapalita* or *Ankavaliya*

35 The digging of a tank (*tadaga* Ś XI 29) Jinaharsha (*V Char* VI 690) adds that Vastupala had this tank dug for his own welfare According to the same author he erected in the same place a pump room for the benefit of his mother a *sattra* or alms house for the benefit of both his parents and further a temple of Śiva (*purabhido devasya*) and a rest house for travellers There are several villages in Kathiavad with the name of Ankavaliya Probably the one meant here is that which lies eastward from Bhimnath 71°59 E long and 22°15 N lat (Trigonometrical Survey Map Kath Ser No 14) on the river Lilka There is a large tank and the village lies on the old road from Dholka to Śatrumjaya

VII — On Mount *Ujjayanta* or *Girnar* –

36–37 The erection of two temples of Pārśvanatha of Stambhana and of Ādinatha of Śatrumjaya (Ś XI 30) These two temples are mentioned in the Girnār inscriptions (*Arch Rep W I* Vol II p 170 1 6) first among the buildings erected there Jinaharsha (*V Char* VI 695) speaks only of the temple of Ādinātha

VIII — In *Stambhana*[2]

38 The restoration of the temple of Parśvanātha which was adorned with statues of Ādinatha and Neminatha (Ś XI 31) Jinaharsha says (*V Char* VI 518) that Vastupala deposited 1 000 *dinaras* in the treasury of Parśvanatha for the purpose of the restoration not that he himself had it done

39 40 The erection of two pump-rooms (*prapa*) near the temple of Parśvanatha (Ś XI 32)

1 In verse 25 the author says that he would be able to describe all the buildings erected on the Śatrumjaya, if the creator had given him a place in the firmament like the teacher of the gods (the planet Jupiter)

2 This place lay as is often mentioned in the *Prabandhas* on the river Seḍhi or Sheḍhī and thus in the eastern part of the present collectorate of Khedā Peterson s identification of it with Stambhatirtha or Cambay (*Third Report* p 26) is untenable for the Sheḍhī is more than 30 miles distant from Cambay and Stambhana is named along with Stambhatirtha in the Girnār inscriptions [Stambhana is an old name for Thāmna on the Śeḍhī, 10 miles south west from Thāsrā in Ānand tāluka lat. 22° 43 N long 73° 9 E J B]

IX —In *Darbhavati* or *Dabhoi*

41-42. The placing of gold capitals on the temple of (Śiva) Vaidyanātha, because the old ones were carried off by the king of Mālava, and the erection of a statue of the sun-god (Ś XI 33) Jinaharsha mentions these (*V Char* III 371), but ascribes them to Tejahpāla

X — On Mount *Arbuda* or *Ābū* –

43 The building of a temple of Malladeva (by whom may be meant Mallideva or Mallinātha) for the benefit of his brother Malladeva (Ś XI 34) In the *V. Char* VIII-76, it is stated that the temple for the benefit of Māladeva was built on Śatrumjaya Since only one temple of Neminatha built by Tejahpāla, is found on Ābū, and its position makes it improbable that a second ever existed, the mistake may be on Arisimha's side

In this list of Vastupāla's buildings *the restorations of Brāhman temples*, as well as of the decoration of such buildings, have a special interest They prove, as does also his worship of Śiva-Somanatha in Devapattana (p 77 above), that he was no exclusive Jaina, but was rather lax in his religous views, and thereby confirm some hints in the later *Prabandhas* on this point (see *Kirtikaumudi* p xxii) The reasons for his lax view may have lain partly, as Professor A V Kathvate says, in the passage quoted in his familiar intercourse with the high priest Someśvara and other Brāhman savants but may partly be due to his position at the Brāhman court of Dholka The latter is hinted at by Jinaharsha also He adds apologetically, on mentioning the worship of Śiva-Somanātha in Devapattana, that Vastupāla performed this act to please his king [1] He also says further on, that the minister, 'at the command of his master,' prepared a *mundamālā*, or 'skull-chain' or 'tiara, adorned with rubies, for Śiva These well-authenticated pieces of information have their significance in the judgment of cases where something similar is stated of court Jainas, as, for instance, of Hemachandra,[2] in works less worthy of credit

The second interesting point in the catalogue is the mention of *only two temples on Girnar* This shews plainly that, the great threefold temple, which now forms the principal ornament of the mountain, was not yet finished, perhaps not yet begun The date of the six inscriptions, identical in their first parts, in the Vastupālavihāra, is Vikrama-Samvat 1288 Phālguna śudi 10, which according to Jacobi's calculation, *Indian Antiquary*, Vol XVII p 151 f, corresponds with the 3rd March A D 1232 The *Sukritasamkirtana* must therefore have been written before that time, and we must not put its authorship earlier than Vikrama-Samvat 1285 From a comparison of the list of Vastupala's buildings in the Kirtikaumudi it is further clear that the latter work was written in a little earlier than the *Sukritisamkirtana* For in the *Kirtikaumudi* the buildings on Śatrumjaya are mentioned, but not two temples on Girnar

1 *V Char* VI 535-536 —

श्रीवीरधवलक्ष्मीशसन्तोषहेतवे । सोमेश्वरं तदानर्च मन्त्री नानाविधार्चनैः ॥ ५३५
नरेन्द्रादेशतो मन्त्री सोमनाथमहेशितुः । माणिक्यचित्रां मुण्डमालामयमकारयत् ॥ ५३६

2 See *Ueber das Leben des Jaina-Mönches Hemachandra* S 27 f

NOTES ON VASTUPĀLA'S WARLIKE DEEDS

While Arisimha, true to his plan, sings only of the *sukṛtas* — the pious deeds of Vastupala, Amarapaṇḍita endeavours to acquaint posterity also with the heroic deeds of his patron He evidently knows of only one, the victory of Vastupāla over *Samgramasimha*, the son of *Sindhuraja*, who seems to have been a petty vassal-prince or village chief in Vaṭakupa near Cambay, and over his ally *Śankha* He says, I 44 ' They call him a Jaina, but the illustrious minister Vastupala is devoted also to Śiva *He washed the master who wears the form of air* (*i e*, goes naked) with the water of shining fame which he took from *Śankha* " Further, VIII 46 "Thy sword illustrious Vastupala, beautiful in rising and brandishing valiant in deed, defeated in the world that *Samgramasimha* And X 45 ' Thy glory O Vastupāla, which shines by the victory over *Sindhurāja* is like the moon in the sky since the spot in it is certainly the face of Sindhurāja which was blackened by his deep shame '

Vastupala's feud with *Samgramasimha* and *Śankha* is related at length by Someśvara in the *Kirtikaumudi* IV V, and Someśvara also is unable to report any other warlike deed of his friend Since, then, we possess two eulogies, which, although otherwise independent of each other, mention only this one exploit, we may conclude that the accounts in the later *Prabandhas* of the numerous heroic deeds of Vastupala and Tejahpāla, in the beginning of their career, deserve on great confidence

In conclusion, it may be mentioned that Amarapaṇḍita twice addresses *Vastupāla* by the name of *Vasantapāla* This was his poet name, under which he wrote the *Naranārāyaṇānanda kavya*, which I found in Aṇhilvaḍ in 1875 [1]

1 A copy of the work is in the Deccan College Collection of 1875 77 No 731

INTRODUCTION

of the Sukritasamkirtana text by late Muniraja Shri Chauravijayaji Maharaja

साक्षाज्जिनाधिपतिधर्मनृपाङ्गरक्षो जागर्ति सचितमना भुवि वस्तुपालः ।

The Sukṛtasankīrtana is a historical Mahākāvya describing the good deeds of Vastupāla. It consists of eleven cantos and at the end of each conto are appended five verses composed by a Amara Pandita Three out of these are eulogistic, the fourth mentions Arisimha as the author of this work and praises his poetical skill, while the fifth rocords the fact that these four verses are composed by Amara

The popularity Of the work. The Sukṛtasankirtana does not seem to have been popular even among the Jains Verses from Someśvara's Kirtikaumudī are often found in the Prabandhakośa and Jinaharsha's Vastupālcharitra, but none from the Sukṛtasankīrtana. Bālachandra has also composed his Vaśantāvilas on the style of the Kirtikaumudi

Literature about Vastupāla—The main works about Vastupāla's history are as under.—

Contemporary

I	Sukṛtasankīrtana	
II	Kīrtikaumudī	
III	Dharmābhyudaya	Udayaprabha
IV	Sukrtakīrtikallolinī	
V	Hammiramadamardana	Jayasimha Sūri.
VI	Vastupāla Tejahpāla Praśasti	
VII	Vasantavitāsa by Bālchandra.	

Later

VIII	Vastupālaprabandha in the Prabandhachintāmani
IX	Vastupālaprabandha in the Chaturvimśatiprabandha
X	Vastupālacharitra of Jinaharsha

The author and his religion—The author of the Sukṛtasankīrtana is Arisimha, son of Lavanasimha He was a protege of Vastupāla and we understand from the Upadeśatarangini that like Someśvarsa, the author of the Kirtikaumudi, he too got a *giras* and other gifts for this work[1]. It is not clear to what caste he belonged, whether he was a Bania or a bard He has got the appellation Ṭhakura and this appellation was common among the Banias too As to his religion, it is not quite certain whether he was a Jaina or a Shaiva The fact of his bringing the spirit of Kumārapāla and making him to order Bhima to revive the glory of Jainism speaks in favour of his being a Jaina, while his omission of salutation of Jina in the beginning of his poem and his telling us that Vastupāla's mother Kumāradevī, though a leader among those following Jainism, had faith in Śiva too, which is not mentioned by any other writer. mey lead one to believe that he was a Śaiva,

(1) स्वसङ्कीर्तनगुणकुलपूर्वजावदातप्रतिपादककीर्त्तिकौमुदीसुकृतसङ्कीर्तनकाव्यकृत्सोमेश्वरारिसिंहयोर्ग्रामग्रामाश्वदुकूलादि-दान यावज्जीवाहं दत्तम् ।

of course, not staunch Jahlana's Suktımuktāvalī quotes four verses of Arası Ṭhakkura,[2] who is most probably the same as our author

Amarachandra and his relation with Arisinha — Amarachandra is an illustrious figure in Sanskṛta literature. The fame of his works was not only restricted among the Jainas, but also extended to the Brahmins among whom his works Bālabhārata and Kavikalpalatā were popular His other available works are Chhandoratnavalı, Syādiśabdasamuchchaya and Padmānanda Kāvya The last work was composed at the request of Kosthāgārika Padma, a Vayada Bania of Pattan[3] It is otherwise known as Jinendracharitra, as it gives the lives of Tirthankaras The Prabandhakośa mentions two other works of his, Sūktāvalī and Kalākalāpa He compared in one place in his Balabhārata the braid (वेणी) to a sword and for this he was known as Veṇıkṛpāna Amara Amara was the pupil of Jinadatta Sūri of Vayaḍagachchha the author of the Vivekavilāsa Jinadatta Sūri s name is mentioned in this poem among the Âcharyas who accompanied in Vastupal's pilgrimāge Śatruñjaya The Prabandhakośa tells us that Amarachandra got the charm of Siddhasārasvata from Kavirāja Arisimha, pupil of Jinadatta Sūri and by his chanting this for twenty one days the Goddess of Learning appeared before him from the disc of the moon at the midnight of the twenty-first day and gave him the boon that he would be a Siddha Kavi, honoured by all kings The same Prabandha describes his entry into the court of Visaladeva and through him of his teacher in fine arts, Arisimha But the Prabandhachintāmaṇi tells us that Amarachandra had entered the court of Dholka in the time of Vastupāla and was recognised as a poet of power and note Amarachandra does not mention *in any* of his published works that he was a pupil of Arisimha in fine arts but it is only clear from the works that he held Arisimha and his poetry in high esteem The story about Amara's getting Siddhasārasvata *charm from Arisimha* and also his introduction of Arisimha into the court of Visaladeva should be accepted with much reserve One thing is, however, clear from this that both Amara and Arisimha occupied a remarkable position in the literary court of Visaladeva Just as Amarachandra had composed four verses in the Sukṛtasankirtana, so the Sūtras of Kavikalpalatā of Amarachandra were composed partly by Arisimha and partly by

---

(2) अतिविपुल कुचयुगल रहसि करैरामृशन्मुहुर्लक्ष्म्याः ।
तदपहृत निजहृदय जयति हरिर्मृगयमाण इव ॥
मध्येन तस्या विजित कृशाङ्गया पञ्चानन काननवद्धवास ।
तस्या स्तनस्तम्भनदीधितिरेव कुम्भौ गजानां कुपितो भिनत्ति ॥
दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भादयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैककेलि ।
भवपरिभवकोपत्यक्तबाण कृपाणश्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति ॥
कान्ताऽस्माद्वियत्या कथमपि शमितान्यनराग्रेयमक्ष्णा
ण्युद्गीयोद्गीय भूयस्तदनिम्नदनिम्नामेव वेन्य थयन्ते ।
इत्थ त्वद्वैरिनारी गिरिषु नरपते । जयुलुम्बीवद्म्ब
भ्रान्त्या भङ्गुरगुच्छो वधयति पुनर्भ्राष्टिन पट्टकानाम् ॥
Jahlaṇa's Sūktumuktāvalī

(3) पद्मनाम्यर्थित स श्रीजिनेन्द्रचरिताह्वयम् ।
वाक्सहायो महाकाव्य निममे निर्ममेश्वर ॥ पद्मानन्द १-४१

Amara[1] Amarachandra mentions in his Kavikalpalata one more work of Arisimha, Kavitarahasya Amarchandra calls Arisimha in the Sukrtasankirtana as an able disputant

Analysis of the work — The *first* canto gives the genealogy of the Chāpotkaṭa kings Of Vanarāja it is said that he founded the city of Anahilla Pattana and that he erected there the temple of Panchāsara Parśvanātha

After him Yogarāja, Ratnaditya, Vairisimha, Kshemaraja, Chāmunda, Rābada & Bhūbhata successively ruled over Gujarat This list of Chavda kings is identical with that given in the Sukrtakirtikallolini of Udayaprabha In view of the concurrence of these two authorities the statement in Krishnaji s Ratnamāla, which is not so old as is believed is unreliable

The *second* canto describes the reigns of the Chaulukya kings Mulrāja's pilgrimage to Someśvara every Monday is also mentioned in Bālachandra's Vasantavilāsa The fourth verse refers to his erection of Tripurusha Prasāda in Anahillavāda Mularaja defeated Barapa the general of the king of Kanyakubja, and Laksha, king of Cutch Vallabharāja's victory over the king of Malva is celebrated in verse 13th He had the *biruda* of Jagajzampana This *biruda* is found in the Kumarapālapratibodha, Kirtikaumudi, Sukrtakirtikallolini and Vasantavilasa Durlabharāja was very modest and was ashamed when his court poets compared him to Krishna Bhima defeated Bhoja of Dharā Karna conquered the king of Mālvā and brought home from there an image of Nilakantha Śiva, Jayasimha conquered Barbaraka and took prisoner Yaśovarma, king of Dhara He had the tank called Siddhasaras dug and a high pillar of victory built Jayasimha was very devotional towards his mother Kumārapāla abolished the confiscation of the property of tradesmen dying without male heirs and caused Jaina temples to be built in every city He conquered the king of Jangla Arnorāja of Śākambharī, and his general Āmbada who was a Bania, defeated and killed the Kadamba king Mallika Arjuna of the Konkaṇa This victory of Āmbadi is coroborated by Bālchandra in his Vasantavilasa Ajayadeva generally called Ajayapāla got from the king of Śambhara a golden Mandapikā Mularāja II, though a child defeated the Turushkas, Mahamad Sihabuddin Ghori Bhīmadeva II was very charitable and extravagant His kingdom was being devoured by his powerful Manḍalesas, whom he was unable to control Bhīma was thus filled with anxiety about the fate of his kingom One night a glorious and splendid god the spirit of his grandfather Kumārapala appeared to him in a dream and said that in order to restore order and to prevent dismemberment of the kingdom and to save the Jain faith which was almost sinking, he should make Lavaṇaprasāda son of Arṇorāja, son of Dhavala, to whom he had given the principality of Bhīmapallī his Sarveśvara and make his son Vīradhavala his Yuvaraja Vīradhavala then requested king Bhīma to give him good counsellors Bhīma said that there served in this realm, Chanḍapa fiery in splendour, of the Porvāda lineage His son was Chanḍaprasāda His son Soma, who served under Jayasimha acknowledged no master but king Siddharāja

(1) सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दोर्मत्वाऽरिसिंहसुकवेः कवितारहस्यम् ।
किञ्चिच तद्रचितमात्मकृत च किंचिद् व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम् ॥
काव्यकल्पलतावृत्ति I–I ।

Jayasimha and no god but the lord of the Jinas His son Aśvarāja who made the universe splendid with his glory made seven pilgrimages in order to escape seven hells His wife Kumāradevi though eminent in the Jaina religion also had faith in Śiva They had three sons–Malladeva Vastupāla and Tejahpala Bhīma then gave Vastupala and Tejahpala as Virādhavala's counsellors and said to him that *his heroism which will have sight with these two as eyes may now trample down* his enemies by searching them out The two *ministers should fulfil* also *the massage* of Kumārapala–the glorification of the Jaina faith This account though it materially differs from that given by Someśvara in this Kīrtikaumudi agrees with that in the two other contemporary works (1) Jayasimha's Vastupāla Tejahpalapraśasti and (2) Udayaprabha's Sukṛtakīrtikallolinī Vastupala's own words should have, however more weight in this respect In the Naranarāyaṇānanda he calls himself as the high *minister of the Gurjareśvara and in its last canto he says that he accepted the* dependence of the high ministership of Bhīma the lord of Gujarat *for the incessant* occurence of the festival of faith without any obstacle which is sweet on account of its splendid power [1] Bālchandra's account however agrees with that of Someśvara

In the *fourth* canto Arisimha says that Vīradhavala with the help of his ministers conquered the earth and put down all wrong and violence Tejahpāla then requested Vastupāla to keep in mind the king's command and support the Jaina religion Both approached their spiritual family preceptor Vijayasena Sūri of the Nagendragachchha On this occasion the succession of the priest of this gachchha is given (1) Mahendra Sūri (2) Shānti Suri and Amara Suri who received from king Jayasimha the title– Tiger Cubs as they had overcome proud disputants even in their infancy (4) Haribhadra Suri (5) Vijayasena Suri Vijayasena Sūri explained to them the religious merits of becoming a Sanghādhipati Vastupāla resolved to do so

In the *fifth* canto are described the preparations for the great pilgrimage Narachandra Suri of the Maladhāri gachchha and spiritual adviser of Vastupāla on his mother's side, Jinadatta Sūri of the Vāyaḍa gachchha Śānti Sūri of the Saṇḍeraka gachchha and Vardhamāna Suri of the Gallaka people were among the notable Āchāryas who accompanied Mention is made of a halt at Kāsahrada in modern Kāsandra and of the institution of a great festival in the temple of Rishabha

In the *sixth* canto we have a conventional description of the sun rise

In the *seventh* canto is described the ascent of the mountain and the devotional festivities After paying his respects to Kapardi Yaksha the presiding deity of the Tirtha Vastupāla entered the main temple of Ādinātha The Sangha stayed on the mountain for eight days

In the *eighth* the pilgrimage to Deva pattana and Mount Girnar is described From Śantrunjaya the Sangha started to Devapattana for offering worship to Somanātha Thence it proceeded to Girnar A camp was pitched at the foot of the mountain and a festival was held Then follows the description of the worship of Neminātha and the festivals Having paid homage to Ambā, the presiding deity of the Jain temples on Mt Girnar and Samba and Pradyumna who had obtained salvation here the Sangha descended after a stay of eight days

(1) [illegible]
[illegible] XV 135

In the *ninth* is given a poetical description of the six seasons which the minister saw while descending.

In the *tenth* begins the return journey. The Sangha entered Vāmanasthalī—the modern Vanthali, in all magnificence. When the procession reached near Dholka, not only Tejaḥpāla but Vīradhavala came out with citizens to receive him. For a fuller description of the pilgrimage compare the last canto of the Dharmābhyudaya and the cantos eleven and twelve of the Vasantavilāsa.

In the *eleventh* canto the author describes the temples built and restored by Vastupāla.

In Anahilavāda Pattan:-

(1) The restoration of the temple of Panchāsara Pārśvanātha of Vanarāja.

In Cambay:-

(2) The erection of a golden staff and knob on the temple of Bhīmeśa.

(3) The erection of an Uttānpaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head.

(4) Excavation of a well in the temple grove called Vahaka of Bhaṭṭārka.

(5) The erection of a vestibule before the temple of the Sun-god Bakula.

(6) The restoration of the Maṇḍapa and of the temple of Vaidyanātha.

(7) The erection of high-walled enclosures for the sale of sour milk to avoid contamination.

(8) The erection of two Upāśrayas.

(9) The erection of a drinking hall with round windows on two sides.

In Dholka:-

(10) The Building of a temple of Ādinātha.

(11) The erection of two Upāśrayas.

(12) The restoration of the temple named Rāṇaka of Bhattārka.

(13) The construction of a Vāpī.

(14) The erection of a Prapā.

On the Śatruñjaya Hill:-

(15) The erection of an Indramaṇḍapa before the temple of Ādinātha.

(16) The erection of the temples of Neminātha and Stambhana Pārśvanātha.

(17) The erection of a statue of the Goddess of Sarasvatī

(18) The erection of the statues of his ancestors.

(19) The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejaḥpāla and that of Vīradhavala.

(20) The erection of sculptures representing four summits of Mt. Girnar, Avalokana, Ambā, Sāmba, and Pradyumna.

(21) The preparation of a Toraṇa before the temple of Ādinātha.

(22) The erection of temples of Suvrta of Broach and Mahāvīra of Sāchor.

(23) The erection of a Pṛṣṭhapaṭṭa of gold and precious stones below the image of Ādināth

(24) The raising of a golden Torana

In the vicinity of Pālitaṇā

(25) The excavation of a large tank

(26) The erection of an Upāsraya

(27) The erection of a Prapā

In the village of Ānkevaliyā

(28) The digging of a tank

On Mt Girnar -

(29) The erection of temples of Stambhana Parśvanātha and Adīśvara of Śatruñjaya

In Stambhana (Thamna near Umreth) -

(30) The restoration of the temple of Parśvanatha.

(31) The erection of two Prapās near the temple of Parsvanātha

At Dabhoi

(32) The placing of golden capitals on the temple of Vaidyanatha as the old ones were carried off by the king of Malva and also the erection of an image of the Sun god

On Mount Abu -

(33) The building of a niche of Mallideva (in Samvat 1278) for the religious merits of the spirit of his elder brother Malladeva

For fuller and more complete list of Vastupala s temples and works of piety public utility the reader is referred to Jinaharsha s Vastupalacharitra

The date of the composition of the work — The Sukṛtasankirtana was written before Samvat 1287 in which year the incriptions on Mt Abu are dated and after 1278 the date of building a niche of Mallinātha on Mt Ābu mentioned in the present work

Dr Buhler contributed a very valuable and exhaustive paper *Das Sukrita samkirtana* in the *Sitzungberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol CXIX 1887) and an English traslation of the German paper was published in the Indian Antiquary Vol XXXI (1902) pp 477-495 For a complete and critical study of the career of this one of the greatest minister Gujarat has ever produced one should read the *introductions of the* Naranarāyaṇānanda *Vasantavilasa and* Hammiramadamardana in the Gaekwad s Oriental Series A photo of the statutes Vastupala and his two wives will be found in the edition of the Naranārāyaṇānanda in the same series

कीर्तिकौमुदी-सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्ययोर्विशिष्टनामानुक्रमः।

★

द्वितीय परिशिष्ट ।



श्रीअरिसिंहविरचितं

सुकृतसंकीर्त्तनमहाकाव्यम् ।



[पृष्ठाङ्क ९८-१३६]

विषयानुक्रमः ।

प्रथमः सर्गः ।

वनराजः

श्रीवेश्मविस्मयमयप्रबलप्रतापश्चापोत्कटो वयरनैकहरिर्नरेन्द्रः ।
आसीदसीमचरित परिवत्सरानुभालार्पिताङ्घ्रिनलिनो वनराजदेवः ॥ १ ॥

यत्खड्गखण्डितविरोधिशिरोऽधिरकस्रोतस्विनीभिरदधिर्विदधे सराग ।
येनाऽधुनाऽप्यरुणता भजतस्तदङ्गसम्पर्कतोऽर्क शशिनावुदयक्षणेषु ॥ २ ॥

निर्गत्य कोशकुहरादसिदन्दशूक, श्यामो यथागतमगात् त्वरितं यदीय ।
एतेषु मास्म निशदेष परैरितीव, रन्ध्रेषु वक्त्रविवरेषु कराङ्गुलीभि ॥ ३ ॥

खट्वाङ्गसङ्गतकरस्तरवारिलग्नकृत्तारिमुण्डमिषत समराङ्गणे य ।
भालाधिरोपितहुताशनचण्डचक्षुराभादिभासुरविरोधिविभासुरश्री ॥ ४ ॥

तेन कृतान्तसमता रसनासनाभि धारोद्धुरो यदसिरञ्जनमञ्जुलश्री ।
अहाय यस्य युधि दर्शनसंज्ञयैव, भिन्दन्नरीनधित किङ्करता कृतान्त ॥ ५ ॥

स्तम्भप्रकम्पितविलीनविवर्णगात्रै, स्विन्नैर्विभङ्गुरखस्फुरदश्रुलेशम् ।
उन्मुच्य पौरुषमवाप्य च भीरुभाव. य सेव्यते रिपुभिरुत्पुलकै प्रसन्न ॥ ६ ॥

आकर्ण्य तूर्णमुपकर्णयितुं च यस्य, कीर्तिं मुहुर्भुजगभीरुगणेन गीताम् ।
चक्षु श्रवा रसवशेन दृशा निमेषोन्मेषक्रियामनिमिषोऽपि चकार शेष ॥ ७ ॥

वक्रीकृते धनुषि मौक्तिकताडपत्रज्योत्स्नाम्बुभारभृति पञ्चलता दधाने ।
यस्याऽऽनन विकचवारिजकम्पमन्तर्भेजे विहाय परराजकरात् जयश्री ॥ ८ ॥

श्रीमत् पुर भुवि पुरन्दरपत्तनाभ, तेनाऽऽदधेऽणहिलपाटकनामधेयम् ।
लीगा मुखे स्मरतपस्विवनेऽजनीन्दुपद्मश्रियोरसुहृदोरपि यत्र योग ॥ ९ ॥

अन्तर्वसद्घनजनाद्भुतभारतो भूर्मा भ्रस्यतादिति भृश वनराजदेवः ।
पञ्चासराह्वनवपार्श्वजिनेशवेश्मन्याजादिह क्षितिधरं नवमाततान ॥ १० ॥

---

१ ग-'विशीर्ण' ॥

यस्मिन् सदैव निकृतानि निकेतनाग्र-जाग्रन्मणिद्युतिभरैर्नितमां तमांसि ।
आरामकालिमिषेण बहिःस्थितानि, तानि प्रसर्पद्रघट्टरवै रटन्ति ॥ ११
जाड्यं जनेषु रजनीजनितं विभिन्द-न्नुद्दीपयन्नपि दिवाकरकान्तचुल्लीः ।
जालान्तरागतकरस्तरणिर्द्विधाऽपि, यस्मिन्नभूदनुगृहं ननु सूपकारः ॥ १२
यस्मिन् विलाससदनेषु विलासवत्यः, पत्युः करेऽपहृतवत्यधरोत्तरीयम् ।
रत्नप्रदीपविफलीकृतफूत्कृतास्त-न्नेत्रे निमील्य सुरतो दधतेऽन्धकारम् ॥ १३
पर्वक्षणे न खलु निश्चिनुते दिनेषु, सूर्यं सुवर्णसुरसद्मकिरीटकुम्भैः ।
यत्रोन्ननालग्नशिरःपुरयोषिदास्यै-र्नैव क्षिपोपतिमपि क्षणदासु राहुः ॥ १४
सङ्कोचिताम्बुजकुलोऽपि हतार्ककान्त-क्रीडोऽपि पीडितरथाङ्गकुटुम्बकोऽपि ।
प्रातः प्रयाति विधुरुज्ज्वल एव यत्र, सौधावनिस्खलितधामनि धामनाथे ॥ १५
रुद्धेऽपि यत्र मरुदध्वनि वारिवाहै-र्लोकः सदा नियमभानुविलोकभोजी ।
पूर्वाद्रिमौलिगतमेव गृहाधिरोहा-दर्कं विलोक्य लगति व्यवसायवीथ्याम् ॥ १६
यत्र प्रतिक्षणविवृद्धरसातिरेक-निष्कम्पदम्पतिकदम्बककैतवेन ।
रत्या सहाजनि निकाममनेकमूर्त्ति-रेकाङ्गमोहनरसैः स्मृतिभूरतृप्तः ॥ १७
यत्रोच्चसौधभुवि सन्ध्यकारातपिण्डविभ्रम्भिणां गगनसिन्धुजलद्विपानाम् ।
कुम्भान् विभूषयति भीरुगणः स्वभाल सिन्दूरधूलिभिरसंभ्यकरोद्धृताभिः ॥ १८
यस्मिन्नुपर्युपरि गन्तुमशक्नुवन्तो, दूरेण सूरतुरगाः परितः स्फुरन्तः ।
उच्चैर्विशालमणिसालगतस्वबिम्ब स्पर्धोद्धतैर्दिनमिति परिमाणयन्ति ॥ १९
चेद् योग्यताऽस्ति परिखां पिब मे त्वमेहि, विन्ध्योऽप्युदञ्चतु मयाऽपि हतोऽर्कमार्गं ।
यत्रेति केतुपटकिङ्किणिकारवैः खे, वप्रो वदत्युदधिपायिनमप्यगस्तिम् ॥ २०
मन्दाकिनी वियति तुङ्गविशालसाल-रोधद्विधाप्रसमरा परितः स्फुरन्ती ।
शङ्के सुराधिपतिनिग्रहविग्रहाय, यत्रान्तरालपरिखाश्रियमादधाति ॥ २१
भुग्नानि भूमिधरभासुरसालभित्ति-भागेषु मारविवराण्यभितोऽपि यत्र ।
व्योमापगाजलभजप्रतिमानसीम-निर्मग्नदन्तहलिलक्ष्मनिभानि भान्ति ॥ २२
यद्रत्नवेश्मपरिमार्जनिकारजोभि-र्दूरोज्झितैरुपवनावनिदोषभीत्या ।
अभ्रंलिहो जगति यः पटुरत्नगर्भैः, कूटैः किलाजनि जनेषु सुरत्नसानुः ॥ २३
यस्मिन् जनाय मणिवेश्मदिमाविभिन्न-ध्वान्तोत्करेऽपि कथयन्ति विमानमारम् ।
लीलासरोवरसरोरुहिणीनिकाश-सौरभ्यलुभ्यदलिनीकलकूजितानि ॥ २४

---

१ ग-क्षपा॰ ॥ २ ग-भग्नानि ॥

सत्यभ्रमेण घृतकानि गृहेषु हृत्वा, हन्तव्यरूपकशतानि विशीर्णदन्त ।
सत्यापि प्रतिभयेन न तानि हन्ति, सम्प्राप्तधर्म इव यत्र बिडालकोऽपि ॥ २५

यद्दानिदानमुदितेन वनीपकेन, लब्ध्वा प्रभूतमुक्तैः कथमप्यवाप्त ।
छाया विभूषण पयोऽर्पणहेतुरेव, देवद्रु-रत्न सुरभीविभवोऽपि भेजे ॥ २६

योगराजः

तत्रावनीनिसुरभूद् वनराजरा य-राजीवभानुररिवर्गरनीद्रशानु ।
श्रीयोगराज इति यस्य रराज पाणि पद्मेऽन्विपक्षमुभगा भ्रमरीव भूमि ॥ २७

यस्यासिवेनुफल्के नवनागवल्लि पत्त्रोपमे मुखमुपेयुषि भूभुजङ्गै ।
सद्यस्करक्तरसनैरभिवीरगम्या-माश्लिष्यते स्म जगती नवमोहनेन ॥ २८

रत्नादित्यः

भार भुवो भुजभरेण वभार रत्ना-दित्यस्तत क्षितिपमण्डलमौलिरत्नम् ।
चण्डासिदण्डदलितोरतरावनीभृ द्दन्तालिविस्फुरितमौक्तिकरम्यकीर्त्ति ॥ २९

आदेशपत्रमिव यत्तरवारिदण्ड, धीरस्यैव दण्डधरचण्डधराधिपस्य ।
चक्रे प्रयाणकमरातिनरेन्द्रवर्ग, स्वर्गे प्रति त्वरितमद्भुतभीतिभावात् ॥ ३०

वैरिसिंहः

दुर्वारवारणघटोत्कटवैरिसिंह, श्रीवैरिसिंह इति भूदयितस्ततोऽभूत् ।
यत्कीर्तिकान्तिविशदेषु जगत्सु पाणि-स्पर्शेन चन्द्रमसमाकलयन्ति तारा ॥ ३१

प्रत्यर्थिपार्थिवगण समराङ्गणेषु प्रच्छादितभीमतरणिद्युतिभारतुर्ये ।
तत्तौ महोभिरिव यस्य कृपाणवल्लि धारागृहे यनिकरन्यसनी बभूव ॥ ३२

क्षेमराजः

श्रीक्षेमराजनृपतिर्वसुधा सुधांशु-ज्योत्स्नासमुज्ज्वलयशा प्रशशास तस्मात् ।
यस्यासिवल्लिरिभकुम्भविभेदलग्न-मुक्ताफलै कुसुमिता फलिता जयेन ॥ ३३

धूमीभवद्यदसिनद्धितवर्नोत्र, कोपानल क्रिमपि यस्य हृदि प्रदीप्त ।
प्रत्यर्थिपार्थिवचमूरमणीसमूह-बाष्पाम्बुभिर्नियमयं शमयाम्बभूवे ॥ ३४

चामुण्डराजः

विश्वप्रभु तुरुष्क दुरितारिमुण्ड-श्चामुण्डराज इति राजपति स्म तस्मात् ।
पूरे प्रसर्पति यदीययशोलहर्या, दुग्धमन्थनुदुप मग्न ताम्कौधे ॥ ३५

निर्यन् पयोमयपयोधिजलाद् घनात, दीप्यामिनो गतिरि यस्य यश प्रकामम् ।
अद्यापि नापनति पारमिति प्रसर्पन्, लोकत्रयेऽत्यमरे स्खलितो मुरारि ॥ ३६

आहडः

आसीदथ प्रबलवंशयशःशशाङ्क-श्रीराहुराहड इति क्षितिजीवितेशः ।
निर्लोठितोऽद्भुततदीयकृपाणकाणै-र्मग्नः शशी किल तदीययशःसमुद्रे ॥ ३७

यत्कीर्त्तिमेव धवलामवलोक्य लोके, लोकोऽयमन्वहममन्यत पूर्णमासीम् ।
एतां पुनः सततमात्मनि चन्द्रचारं, पश्यन् कुहूतिथिविनिर्णयमनापदर्कः ॥ ३८

भूभटः

श्रीभूभटो रिपुभटोच्चयभेदरक्त-प्रोल्लासपङ्कितखड्गलतस्ततोऽभूत् ।
दिक्कुम्भिकुम्भमिषदिग्वनिताकुचाग्र-क्रीडाविशृङ्खलयशा जगतीभुजङ्गः ॥ ३९

दानच्छटासुरभिशीतलदिक्करेणु-श्रीगण्डलग्नमधुपावलिमत्तरङ्गैः ।
यत्कीर्त्तिमन्वहमिलाधविलाससलिला, दिग्योषितो जलधिसीमनि वीजयन्ति ॥ ४०

हरहसितसितानि तानि तन्व-न्ननुपमानि जगत्त्रयीयशांसि ।
चिरमयमवनिं शशास भास्व-त्तरतरवारिनिवारितारिवर्गः ॥ ४१

किञ्च–

दीर्घायुर्भवतादिति द्विजवरैर्ब्रह्मायुरित्यन्वहं,
　　बन्दीन्द्रैरजरामरेति च कुलस्त्रीभिस्त्वमाशास्यसे ।
श्रीमन्त्रीश्वर वस्तुपाल ! किमपि ब्रूमस्तु विस्तारिणी,
　　कीर्तिर्नृत्यति यावदेव दिवि ते तावद् भवान् नन्दतात् ॥ १

उद्भ्रान्तैः सहसा पिनाकवलने क्षीरार्णवोद्भावना-जातैः गण्डूषगप्रशमनप्रारम्भसंरम्भितैः ।
उधे रावणनाशभासुरतरैरेभिर्यशोभिर्विभो, श्रीसोमान्वयजोऽयमर्कतुलनश्लोकीनरस्पर्धया ॥ २

जैनं किलैनं जगदु दिवेऽपि, श्रीवस्तुपालः सचिवस्तु भक्तः ।
शक्रार् गृहीतं शुचिकीर्तिनाम्नै-रसित्रपद् मोऽम्बर्पूर्तिमीशम् ॥ ३

सदा प्रसादोन्मुखवस्तुपाल-दृक्पातपीयूषसमानुसारम् ।
अमुं प्रबन्धं प्रतिवादिदन्ति सिंहोऽरिसिंहो रचयाञ्चकार ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । श्लोकाः पञ्च च वाणि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति श्रीसुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥



मूलराजः

परेऽथ तस्यात्मनि भास्वरेऽपि, चौलुक्यवंशार्णवपूर्णचन्द्रः ।
श्रीमूलराजः प्रतिकृत्यराज समूलनिर्मूलनबद्धमूलः ॥ १

१ क-'विभाति भाति' इति पाठः ॥

तथाऽस्य तेजोभिररातिजाति-र्वाप तापव्यसनं वनान्ते ।
यथा हिमाम्भःकणसङ्गमङ्गे, दवस्फुलिङ्गेषु स्मासु मेने ॥ २

सुव्यक्तभक्तिः प्रतिसोमवारं, यः सोमनाथं प्रणिपत्य वीरः ।
तद्भालनेत्रानलचन्द्रमाभिः समार तेजश्च यशश्च पुष्टम् ॥ ३

सम्पूर्णशक्तित्रयसम्भवा यः, सम्पुत्रयद्दिवगृहच्छलेन ।
कीर्तिस्त्रिधा मूर्तिमती पताका-हस्तैर्नटन्तीर्घटयाञ्चकार ॥ ४

विजित्य यः समति कन्यकुब्ज-महीभुजो वारपदण्डनाथम् ।
जहार हस्तिप्रकरं कराग्र-न्यू कारसंदीपितपौरपाणिम् ॥ ५

न भूभृतः केऽपि यदग्रभागे, भेजुर्गुरुत्वं किल साऽपि मग्ना ।
अदृश्यता यच्चरवारिवारि निधौ दधौ कच्छपलक्षसेना ॥ ६

स्वर्गं जिगीषुश्चरणाग्रलग्न-मग्निं विधूय प्रबलप्रतापः ।
महो महीयानसहिष्णुरन्यद्, बिभेद भानोरपि मण्डलं यः ॥ ७

चामुण्डराजः

स्मारवण्डमार्तण्डलचण्डशक्ति-श्चामुण्डराजः प्रशशास तस्मात् ।
द्विषां मुखं कस्तुमसूनिवान्त, कृतान्तनाहुर्यदसिर्विवेश ॥ ८

अजस्रमश्वैर्वनपादपाना, यस्यारिनारीभिरकारि सेकः ।
सान्द्रच्छदच्छायतया महान्तस्ताम्योऽपि ते प्रत्युपकुर्वते स्म ॥ ९

वल्लभराजः

तस्माद् भुजङ्गेन्द्रभुजो बभूव, भूवल्लभो वल्लभराजदेवः ।
यत्कीर्तिदासीकृतकौमुदीन्दु-मुखीमुखेन्दौ विशदोऽयमङ्कः ॥ १०

अटव्यटव्या यदरातिवर्गो, दरान्तरेकोज्झितराजलोकः ।
रोगोऽप्यतिक्रम्य पराक्रमेण, हर्षन् दरीमन्दिरयाञ्चकार ॥ ११

जटालमौलिर्मृगचर्मवासा, नित्यं फलाशी वनमध्यवासी ।
अभ्यायदुग्रं हृदि यं तपस्वी, सदाऽपि रूपस्थमरातिभूपः ॥ १२

क्वचिन्न महोऽस्य भविष्यतानि, माले लिपिं मान्त्रमुनिभर्तुः ।
आरुह्य चूडामणिबिम्बदम्भा-ल्लुलोप रोषी यदसिर्जगत्यः ॥ १३

ऊर्ध्वस्थितारातिचमूसमूह-प्रच्छादनोच्छ्वलसैन्यरेणुः ।
यो धैर्यधुर्यो जगति द्वितीया, दधौ जगत्कम्पनदर्पमिन्द्याम् ॥ १४

---

१ क-ख-°रको ॥

दुर्लभराजः

अभूदथ न्यायपरः परस्त्री-सुदुर्लभो दुर्लभराजराजः ।
यः कृष्णसाम्ये कथितैः कवीन्द्रै-र्विचिन्त्य गोपीचरितं ललज्जे ॥ १५
तमीदिने व्यत्ययतो वितेनु-र्यद्वैरिणः प्राप्य महीध्ररन्ध्रम् ।
तदौषधीदीपितमाप्रदोषात्, तमिस्रमिश्रं पुनराप्रभातात् ॥ १६

भीमराजः

अथावनीशोऽजनि शौर्यसीमा, भीमाभिधो येन युधि द्विषन्तः ।
श्रीभीम ! रक्षेति हरं स्मरन्तः, स्वध्यानबुद्ध्या मुदितेन मुक्ताः ॥ १७
वित्रस्यतो मालवभूमिभर्त्तु-र्भ्रष्टेंऽशुके शुभ्रभृतत्रपस्य ।
यत्सैन्यधूलीभिरदृश्यवक्त्रा-म्भोजस्य भोजस्य हृदा न दीर्णम् ॥ १८
सर्वत्र सञ्चारिषु यच्चरेषु, चरन्नरण्येऽरिनरेन्द्रवर्गः ।
दरेण नश्यँल्लघुकन्दरेऽपि, गुणाय कार्श्यं गणयाम्बभूव ॥ १९

कर्णदेवः

श्रीकर्णदेवोऽथ नृपस्त्रिलोक-विलोकनीयद्युतिराविरासीत् ।
यं वीक्ष्य नारीहृदयैकवासो-धिकं ह्रियाऽभून्मदनोऽप्यनङ्गः ॥ २०
पूजासु पाणिस्थितपुष्पमाल-मालोकयन् यं पुरतः पुरारिः ।
क्रुद्धोऽपि पुष्पायुधयुद्धबुद्ध्या, भेजे भवानीहसितः प्रसत्तिम् ॥ २१
सम्पालयन्तो यदरीन् दरीषु, स्फुटं कुटुम्बित्वगता गिरीन्द्राः ।
अद्यापि दीप्रौषधिदीपदीप्ताः, क्षपां सशङ्काः क्षपयन्ति शङ्के ॥ २२
जित्वा बलैर्मालवभूमिपाल-मानीतवान् यः किल नीलकण्ठम् ।
तन्मूर्ध्नि सिन्धुप्रथिताभ्यसत्यै, प्रैर्पद् यशः स्वं भुवनत्रयेऽपि ॥ २३

जयसिंहदेवः

बभार भूभारमथो जयश्री निकेतनं श्रीजयसिंहदेवः ।
भाले रराज प्रतिराजकस्य, राज्यप्रतिष्ठातिलको यदङ्घ्रिः ॥ २४
यत्र क्षितिं रक्षति काऽपि न स्म, धारा न धाराधरधोरणीनाम् ।
न वैरिहग्वारिनदीकदम्बै-र्नदीर्नदीमातृक एव लोकः ॥ २५
उद्दामदानप्रसरस्य यस्य, लसद्यशोदुग्धपयोधिमध्ये ।
कल्पद्रु-चिन्तामणि-कामधेनु-स्वर्गौभिराराधत मौक्तिकत्वम् ॥ २६

---

१ ख-दधिते ॥ २ ख-महीन्द्र ॥ ३ ख-ग-मूर्द्धनि ॥

सवार्द्धिमुर्वीमपि ये भुजेनाऽन्वहं वहन्तः क्षितिपा न खिन्नाः ।
क्ष्मालेशजैर्मूर्ध्नि धृतैः क्व तेषां, खेदोऽस्तु यद्द्वारि सवारिलेशैः[1] ॥ २७

युग्मेन यस्यासिलता प्रताप-कीर्त्ती प्रसूयाऽरमयत् कृतार्थी ।
उच्चै रवीन्दुद्विककन्दुकश्री-शिल्पे वलन्दोलिनि विश्वतल्पे ॥ २८

धृता चिरं या हृदये निरस्ता, सा कालिका यज्जनितप्रसत्त्या ।
विलग्नहिंसीरकिणच्छलेन, स्थातुं पपात द्विषतां पदेषु ॥ २९

यस्य द्विषां कण्टककूटकोटि-क्षतानि कान्तारजुषां तनूषु ।
नव्यानि नित्यं मृगयापुराप-श्वाङ्गनासङ्गनखाङ्कशोभाम् ॥ ३०

दृष्टैः स्मृतैरप्यपरैः प्रकृष्टै-ररक्षिता यस्य युधि क्षतेभ्यः ।
त्रस्ताः श्वसन्तो रिपवः समस्ता, व्यस्मारयन् नास्तिकदृष्टिसृष्टिम् ॥ ३१

अपि द्विषः प्रागकृतप्रहारा-नभिन्दतामागचमूभटानाम् ।
स्पर्शेन पूतानपि यस्तुरङ्गान्, गङ्गाम्भसि क्षालयति स्म कीर्त्यै ॥ ३२

यः सञ्चरन् बर्बरखेचरस्य, स्कन्धाधिरूढो रचयाञ्चकार ।
मुखश्रिया सेन्दु दिवाऽपि देह-द्योतेन दोषाऽपि नभः सभानु ॥ ३३

यदीयकारागृहमाप्य धारा-पतिर्यशोवर्मनृपः सिपेवे ।
कम्पैः सदा बाष्पपयोभिरुष्ण-श्वासैश्च कालत्रयमेककालम् ॥ ३४

यत्कारितं सिद्धसरः सरत्त्वत्-पाताऽपि पातुं घटभूरशक्तः ।
न प्राग्यशोभङ्गभयादुपैति, च्छलेन विन्ध्याचलवृद्धिरक्षा ॥ ३५

श्रीसोमनाथोऽपि कृपैकपात्रं, यं मातृभक्त्यैकरुशुचिं विलोक्य ।
दक्षक्रतुब्रह्मशिरश्छिदादि-पापोर्मिनिर्मुक्तममन्यत स्वम् ॥ ३६

विश्वं जगद् येन विजित्य कीर्ति-स्तम्भस्तथा कोऽपि महानकारि ।
यथा हिमाद्रेरिव यस्य मूर्ध्नि, नभोनदी केतुपदं प्रपेदे ॥ ३७

लीलावदुत्तद्विजनायकस्य, यशः कुमारस्य कथाप्रथाभिः ।
विलज्जितो यः सततं द्विजेन्द्र-स्थानप्रदानव्यसनी नरेन्द्रः ॥ ३८

<u>कुमारपालदेवः</u>

तन्वन् यथार्हमन्नं सुधार्द्र बुधाब्जिगोष्ठीरसवर्धिनेऽस्मिन् ।
कुमारपालः किल भूमिपालः, श्रियं मुमोष द्विषतां सरोषः ॥ ३९

हठाद्धरन्तं श्रियमन्ययीनां, राजानमस्ते सति पामनाये ।
यशो भटैर्यः प्रकटैर्यकार्षी-दमर्त्यकर्मानलमुक्तिधन्यः ॥ ४०

---

१ क-ख-°भियुधानि° ॥

स्वर्गे सुतेनेव जिनस्य धर्म-मुखास्य येन स्मितमार्गणेन ।
क्षतक्षमामृन्नवर्मनैव, हंसैरिवाशोभि जगद् यशोभिः ॥ ४१

सितांशुना कीर्त्तिविनिर्जितेन, ज्योत्स्नातिरेकैरुनिकीकृतेव ।
न्यक्षेपि येनानुपुरं विहार-च्छलेन दक्षैरवदप्रिहेतु ॥ ४२

युधि स्वयं यः किल जाङ्गलेशं, बली विजिग्ये किमु चित्रमत्र ? ।
अनूपभूपो वणिजाऽपि यस्य, यतो जित- कौङ्कणचक्रवर्त्ती ॥ ४३

अजयपालदेवः

अथोरुधामाऽजयदेवनामा, रक्षां दक्ष क्षितिमक्षतौजा ।
न केऽपि कारागृहेऽप्यरण्य-देशेऽपि नो यस्य बभुर्द्विषन्तः ॥ ४४

सपादलक्षप्रभुणा प्रदत्ता, रौक्मी बभौ मण्डपिका सभायाम् ।
सेवागतो मेरुरिव स्थिरत्व-जितो भृशं यस्य कृतप्रतापः ॥ ४५

बालमूलराजः

तदङ्गजो दिग्गजदन्तशय्या-विश्रान्तकीर्तिः किल मूलराजः ।
तुरुष्कराजामिपि शिशुर्जयश्री-रत्नाफलानीव रुसनगृहणात् ॥ ४६

यस्मिन् सदोचे शिरसि प्रतीची-महीभृति स्फारनत्राम्बुगर्भौ ।
अस्त समस्तारिवशा शशाङ्क-प्रतापचण्डद्युतिमण्डलाभ्याम् ॥ ४७

भीमदेवः

श्रीभीमदेवोऽस्ति निरर्गलोग्र-भुजार्गलग्रस्तसमस्तशत्रु ।
बिभ्रत् करे मूलमय पयोधि-वेलामिलन्मौक्तिकमस्य बन्धुः ॥ ४८

आजन्म सप्त कुसदा मदेक-क्षणप्रदानात् क्षयमेष मा गात् ।
इति स्मरन् यः कनकानि दातु-मुन्मूलयामास न हेमशैलम् ॥ ४९

यदानमथापि सदानुभूत-मेवार्थिभिर्गोनिषु रौचरीणाम् ।
विलासहेमाद्रिषु मेरुपाद-धियाऽऽगताना स्वगृहेषु स्के ॥ ५०

सततविततदानश्रीगति दोषलक्ष्मी तितिमितरुचिकीर्तिर्भीमभूमीभुजङ्ग ।
बलकवलितभूमीमण्डले मण्डले धिरमुपचितचिन्ताचान्तचित्तालगेऽभूत् ॥ ५१

किंच—

सर्वेनु नार्गि-मनय ! किमु पूर्वमेव, भीना सुगतरगिणासु विसम्युत्राम्? ।
भूमिं विभूषयन् कोऽपि न याचते य, श्रीवस्तुपालगरिरगृ सनातनायु ॥ १

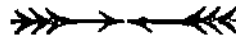
श्रीवस्तुपालसचिवस्तुतिनित्यरक्तान्, पुसस्तथाऽयजदकिञ्चनता विरक्ता ।
मन्दैव दैववचसाऽपि यथा प्रयाति, न प्रातिवेश्मिकनिकेतमुखेऽपि तेषाम् ॥ २

श्रीवस्तुपालभिधमन्त्रिभर्तुर्भूरिन्द्रलेखेव तमालनीला ।
अभ्युल्लसन्ती जलराशिसीम्नि, रिपुप्रतापानलशान्तयेऽभूत् ॥ ३

एवं प्रबन्धमयमुद्धुरवादिवृन्द-वक्त्रारविन्दरजनीरमणोऽरिसिंहः ।
श्रीवस्तुपालचरितामृतसिन्धुवीचि सवावदूकसुचित रचयाञ्चकार ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्तननाम्नि महाकाव्ये चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



वीरधवलवंशवर्णनम्

अथादर्शि निशाशेषे, कृशाशेषनिभूमिना । स्वप्ने कदापि भूपेन, कोऽपि श्रीमासुर सुर ॥ १
धात्र्या धर्तुं न शक्योऽयमियदिग्भतल्मीयुर । वासुके फणवद् बिभ्र-न्नखरत्नजुषोऽङ्गुली ॥ २
हारान्तपद्मरागस्य, प्रभारागमिवाद्भुतम् । अध परिदधद् वास , कान्ताद्वकोणशोणरुक् ॥ ३
कराग्ररोपणार्त्तीति-रसमानै समानताम् । लम्बितानूर्मिरारत्नै-र्नखान् दधदधोमुखान् ॥ ४
सेवकेषु द्दढैपिजये(य) दातुमिवाऽऽवहन् । मुरचापचय दोर्भ्यां, रत्नकङ्कणकान्तिजम् ॥ ५
प्रज्वलन्मणिकेयूर प्रभापूरच्छलादयम् । भुजोष्मार्चिष्मदुत्तालज्वालाजालमुदञ्चयन् ॥ ६
लावण्यामृतपूर्णास्य-स्यन्दिबिन्दुकदम्बवत् । रूपयन्नुरसि व्यक्त, हारमुक्ताकलापकम् ॥ ७
हृद्वर्तिन प्रसादस्य, प्रासादस्याद्भुतश्रियाम् । वैजयन्तीमिवानिभ्र-दास्ये शुभ्रा स्मितद्युतिम् ॥ ८
कपोलयोरिवामान्तौ, कान्तीरावर्त्य पिण्डिता । दधान कर्णयो स्वर्णकर्णिकायुगलच्छलात् ॥ ९
पति स्फुरितज्योति-र्जटापटलपेशलम् । मौलौ नीलमणिं बिभ्रत्, केशवन्त्यादिकन्दवत् ॥ १०
विहरच्चिकुरज्योति-र्झल्कारोर्मिकोमला । दधदम्भिल्लमाल्यान्त भ्रान्तभ्रमरधोरणी ॥ ११
अथ पृथ्वीपतिं प्रीति-लताकन्दमिवाऽऽनम । वचनामृतवीचीभि-र्देवोऽसावित्यसिञ्चत ॥ १२
राजा कुमारपालोऽर्हद्धर्मास्वर्गवैभव । प्राप पितामहस्नेहं, स्नेह दुग्धे दधत् त्वयि ॥ १३
सर्वमर्पयिष्यामि, तवाऽहं राज्यवाहकम् । वस ! नियोक्ष्यसे तेन, पवनेनेव पावक ॥ १४
चुलुक्यकुलकान्तार-गज श्रीधवलाङ्गज । रिपुसर्पसुपर्णोऽभू-दर्णोराजमहीभुज ॥ १५
यद्भयप्रभवस्वेद-पय परिचयैरिव । राज्यर्थान्निरगो द्रुमा, मालवेषु प्रतिभूभृताम् ॥ १६
युधि व्यनासि यस्यासि-र्जयश्रीनाटिकानट । पार्श्वकृत्वन् पार्श्ववर्तिना समवर्तिना ॥ १७
मयाऽसौ विक्रमक्रान्त-मनसा घनसाहस । अकारि कारणं श्रीणा, भीमपल्लीपुरप्रभु ॥ १८

दुष्टामात्यनिषिद्धस्य, येनाकम्पि बलीयसा । राज्यं ते मत्प्रसादाना-मनृणीकारकारणम् ॥ १९

सुतस्तस्याऽस्ति लावण्य-प्रसादो युधि यद्भुजः । असिं जिह्वामिवाकृष्य, रिपुग्रासाय सर्पति ॥ २०

युद्धमार्गेषु यस्याऽसिः, प्रतापप्रसरोष्मलः । अतीवारियशोवारि, पायं पायं न निर्ववौ ॥ २१

प्रतापतापिता यस्य, निमज्ज्यासिजले द्विषः । भीताः शीतादिवाच्छेदुः, सद्यश्चण्डांशुमण्डलम् ॥ २२

सर्वेश्वरममुं कुर्व-न्नुर्वीमण्डलमण्डनम् । भविष्यसि श्रियो भर्त्ता, सुखाम्भोधिचतुर्भुजः ॥ २३

अस्याऽस्ति च सुतो वीर-धवलः प्रधनाय यः । भार्गवस्य पुनः क्षत्र-क्षयसन्धां समीहते ॥ २४

भुजमारोपितां यस्य, युधि वीक्ष्याधिकां श्रियम् । भुवि भ्रष्ट द्विषां चापैः, सज्जितैरपि लज्जितैः ॥ २५

यं विलोक्यातुलं विश्वे, दानेन च बलेन च । पश्यत्युपेन्द्रमिन्द्रोऽपि, श्वभ्रोत्थितबलिभ्रमात् ॥ २६

रिपुभूमिशिरोरत्नी-भूतक्रमनखत्विषे । दत्वाऽस्मै दोष्मते यौव-राज्यं राज्यं चिरं कुरु ॥ २७

किञ्च स्वःसीम्नि येनाह-मनाहतगतिः कृतः । तं कथञ्चित् कलौ जैनं, धर्मं मज्जन्तमुद्धर ॥ २८

इति श्रुत्वा नृपः स्मित्वा, लग्नस्तत्पादपद्मयो । ग्रहीतुमिव पाणिभ्यां, पद्मवासामिव श्रियम् ॥ २९

प्रसादसादरस्तस्य, मूर्ध्नि देवोऽप्यधात् करम् । कमलं कमलागेह-मिव स्नेहवशंवदः ॥ ३०

प्रातस्तूर्यस्वने सूर्यो-दयशंसिनि भूभुजः । निद्रा नेत्राब्जमुद्राङ्क-दथ रात्रिरिवाव्रजत् ॥ ३१

अथ विस्मितहृदस्था, महीपो दीपदीधितिः । साक्षाद् देवः किलास्तीति, मङ्क्षु पर्यङ्कमत्यजत् ॥ ३२

अथानणुमणिस्तम्भ-प्रभविष्णुप्रभां सभाम् । अभजद् भूभुजङ्गोऽयं कृतप्राभातिकक्रियः ॥ ३३

ततः क्षितिपतेरस्य, प्रतापेनेव निर्जितः । आगत्य प्रातरात्मानं, भानुर्भूजमदीदृशत् ॥ ३४

स्फुरन्तः स्वप्रतापाग्नि-स्फुलिङ्गा इव संसदि । मण्डलेशा व्यलोक्यन्त, सेवावन्तः क्षितिक्षितः ॥ ३५

राजा द्वाभ्यां सुधाकुम्भ-सदृग्भ्यामभ्यषिञ्चत । देवादिष्टौ पितृसुतौ, सर्वेश्वरपदे हृदा ॥ ३६

अभाषिष्ट सभाशिष्ट-समक्षमथ पार्थिवः । प्रसादसान्द्रलावण्य-प्रसादाय मुदा वचः ॥ ३७

अस्मिन् कृतोऽस्मि राज्ये त्व-पित्रा विश्वासितद्विपा ।
विध्यायन्तीमिमां भूति-मुद्भावयतु तद् भवान् ॥ ३८

गृहाण विग्रहोद्दाम-सर्वेश्वरपदं मम । युवराजोऽस्तु मे वीर-धवलो धवलो गुणैः ॥ ३९

प्रार्थितौ प्रार्थनीयेऽर्थे, प्रार्थनीयेन भूभृता । देवादेशः प्रमाणं नौ, तावूचतुरिदं मुदा ॥ ४०

पाणी संपुटय रुन्धानो, लोलां मल्लमिव श्रियम् । पुनर्व्यजिज्ञपद् वीर-धवलो धरणीधवम् ॥ ४१

न मे स्वामिन्नमात्योऽस्ति, यं विना विक्रमी हरिः ।
अब्दे शब्दोद्धुरे कुम्भि-भ्रान्त्योत्प्लुत्य पतत्यधः ॥ ४२

दक्षः शस्त्रे च शास्त्रे च, धने च प्रधने च यः । तममात्यं ममात्यन्त-गुणप्रगुणमर्पय ॥ ४३

---

१ क-ग प्रतापेन विनिर्जितः ॥ २ कपुस्तके-क्षितिक्षितः । ख-गपुस्तके-क्षितिक्षिताः ॥ ३ कपुस्तके-सुधाकुम्भ° ॥

इति लक्ष्मीलतोल्लास-सुधया तद्गिरा चिरम् । प्रीतः किञ्चिद् विचिन्त्याथ जगाद जगतीपतिः ॥ ४४

वस्तुपालवंशवर्णनम्

पुरा प्राग्वाटवंशाग्र्य जाग्रत्कीर्तिस्तताविति । राज्येऽस्मिन् महसा, चण्डश्चण्डपः सचिवोऽभवत् ॥ ४५

क्षारोदसोदरो यस्य, यशोराशिर्निशाकरम् । भ्रातृव्योऽयमिति स्वर्गि-मुक्तिमीनमगोपयत् ॥ ४६

तद्भूश्चण्डप्रसादाख्यो, दाक्षदाक्षिण्यभूरभूत् । गृह्णन्ति यद्गुणान् दक्षा, लक्ष्यन्ते न च तेषु ते ॥ ४७

दासः कैलासभूमीभृद्, भुजिष्यो भुजगेश्वरः । किङ्करः शङ्करोत्तंस शशी यद्यशसामभूत् ॥ ४८

कीर्तिकल्लोलितव्योमा, सोमाख्यस्तत्सुतोऽजनि ।
व्यतिष्ठन्नर्थिनो नार्था, यस्मिन् यच्छति वाञ्छितम् ॥ ४९

अस्याऽऽसीत् कोऽपि न स्वामी, सिद्धाधिपतिना विना ।
विना जिनाधिपेनाभूद्, यस्य देवोऽपि कोऽपि नो ॥ ५०

तदभूत् कार्तिमैरश्वराजो विश्वमराजयत् । तीर्थयात्रा व्यधात् सम, यः सप्तनरकच्छिदे ॥ ५१

त्रैलोक्याद्युत्तमं वीक्ष्य, यः माता पितृभक्तिभिः । भक्तये स्पृहये माता पितृभ्यामात्मभूरपि ॥ ५२

आसीत् कुमारदेवीति, प्रातिभूरस्य वल्लभा । या जैनधर्मधुर्याऽपि, गौरीवल्लभभक्तिभाक् ॥ ५३

तयोस्त्रयोऽभवन् पुत्रा, रिपुत्रासकरौजसः । यत्कीर्तिभिर्दितीयेव, त्रिस्रोता समजन्यत ॥ ५४

प्रथमः प्रथितस्तेषा, मल्लदेवो धियानिधिः । स्वाराज्ये गुरुबुद्धीना स्वराज्यमतनिष्ट यः ॥ ५५

धीमानास्तेऽनुजस्तस्य, वस्तुपालः कलास्पदम् । अनुजेनान्वह तेजःपालेनाराधितक्रमः ॥ ५६

इमौ प्रधानिम धानौ प्रधानौ श्रीसमागमे । तुभ्य समर्पयिष्यामि, मन्त्रिणौ तौ तु मित्रयोः ॥ ५७

इत्युक्त्वा मुदितः वीरधवलेऽसौ धराधवः । आहूय तौ स्वयं प्राह, नमन्मौली सहोदरौ ॥ ५८

युवा नरेन्द्रव्यापार पारावारैकपारगौ । युक्ता मन्त्रिता वीरधवलस्य मदाकृते ॥ ५९

युवाभ्यामेन नेत्राभ्या चक्षुष्मानस्य विक्रमः । आलोक्यालोक्य निःशेषा-नपि द्विषन् पिनष्टु मः ॥ ६०

किञ्च प्रपञ्चयतमेव युवा जिनेन्द्र-धर्मं जिनेन्द्रपदपद्मयुगद्विरेफौ ।
स्वभावलोकितनृपालकुमारपाल-सन्दिष्टमिष्टतममेतदवश्यकार्यम् ॥ ६१

आस्थानमण्डपशिरः प्रतिमाव्ददम्भात्, केनाप्यदृष्टमरुताऽनुमतो हि तेन ।
शिक्षामिति क्षितिपतिः स तदा प्रदाय, वीराय वीरधवलाय मुदाऽर्पयत् तौ ॥ ६२

किञ्च—

कल्पान्तेषु यशोभर तव हरिर्दुग्धाब्धिवासस्पृहाः,
मार्कण्डश्चिविवापगाश्यपय स्नानोत्सव लप्स्यते ।
मिथ्योक्तिः कविनेति नात्र वचसि श्रद्धाऽस्ति चेत् तर्हि,
नन्द श्रीस्तुत वस्तुपाल ! भवतु प्रत्यक्षमेतत् तव ॥ १

---

१ ख-ग-पुस्तके-दास्यदा' ॥

शस्त्रविस्तृतिपरः परं परो, रक्षति क्षितिमिमामरातितः ।
वस्तुपालसचिवस्तु पालय-त्येष देव-गुरुवन्मनीषया ॥ २
संग्रामसिंहकृतयशोभरसङ्गभङ्गि-भास्वद्वश कुसुमसौरभसम्भृताशः ।
वाग्वैभवेन किल कोकिलकोमलेन, शश्वद् वसन्त इव भासि वसन्तपाल ! ॥ ३
श्रीवस्तुपालस्य यशस्तरङ्ग-पूरैः परीतं परितोऽरिसिंहः ।
व्यधत्त दुग्धाब्धिमिव प्रबन्ध-ममुं समुद्भूतरसप्रशस्यम् ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि-न्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५.

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



वस्तुपालसचिवेन्द्रशेमुषी-सम्मुखः पुरुषपौरुषोदधिः ।
मेदिनीमजयदब्धिमेखला-मेष वीरधवलोऽथ दुर्द्धरः ॥ १
तन्महामतिरकम्पसङ्कटे, कण्टकालिरहिते हित सताम् ।
न्यायवर्त्मनि समे समन्ततः, सम्मदेन समचीचरत् प्रजाः ॥ २
कस्यचिद्धरणिमण्डलच्युते, कुण्डलेऽपि मणिराजिराजिते ।
शङ्कयेव नृपमाशुशुक्षणेः, कोऽपि न क्षिपति पाणिपङ्कजम् ॥ ३
ऋद्धिवृद्धिविशदेषु सर्वदा, देशवासिषु जनेषु मानिषु ।
दीयमानमपि नाददीत यद्, कोऽपि तस्करकथा ततः कुतः ? ॥ ४
सर्वथाऽप्यसति याचके क्वचित्, कोऽपि किञ्चिदपि न प्रयच्छति ।
कौतुकात् कविभिरेव वर्ण्यते, दानवानिति महाधनो जनः ॥ ५
एतदाननविलासि पालय-त्याशु वीरधवलादपि द्विषः ।
आत्मगौरवमिति च्युतं क्षिते-र्नैव कश्चिदुदपाटयत् तृणम् ॥ ६
नित्यचैत्यकुतुकावलोकन-व्यग्रलोकमणिभूषणांशुभिः ।
जर्जरे रजनितामसेऽफलत्, पांशुलासु न मनोरथद्रुमः ॥ ७
इत्यवेक्ष्य मुदितं पदे पदे, लोकमुन्नतविवेकमेकदा ।
वस्तुपालसचिवं व्यजिज्ञपद्, व्यक्तभक्तिभरभासुरोऽनुजः ॥ ८
बुद्धिरेव तव देव ! दासता-मानिनाय विषमानपि द्विषः ।
मण्डनाय नृपमण्डलश्रिया-मेव वीरधवलस्य वाहिनी ॥ ९

येषामारवदपात्रमन्यत्, प्राणयत्यनुदिनं धनैस्त्वयि ।
तस्करेऽपि मृगमर्थिता गतं, शेरते पुरि सुखेन रक्षकाः ॥ १०
तावकीनयशसैव शाश्वती, पूर्णिमा शशिसमेन तन्वता ।
उज्ज्वले जगति पांशुलाकुलै-राकुलैरहह ! साधुता दधे ॥ ११
त्वं महोभिरहिमांशुकोटिवद्, निष्प्रभीकृतजनेन राहुणा ।
तिग्मभानुरनुपद्रुतोऽभवत्, सीम्नि वर्षति विशेषहर्षित ॥ १२
इत्थमद्भुतविभूतिभूरभूद्, देव ! देशजनता नयात् तव ।
जैनधर्मपरिवर्धनोचितं, तन्महाश्रमणशासनं स्मर ॥ १३
वाग्विवस्य सुरसिन्धुबन्धुरां, भारतीमिति निशम्य सम्मदी ।
आह किञ्चन विचिन्त्य चातुरी-रोचितं सचिवचक्रशेखर ॥ १४
आत्मगोत्रगुरव पुराऽभवन्, विश्रुता भुवि महेन्द्रसूरयः ।
ये सिताम्बरवरै सिताम्बरै, निर्ममे जगदमेयकीर्तिभिः ॥ १५
यैरजीयत जगत्त्रयीजयी, मन्मथोऽयमिदमद्भुतं न न ।
यद्बुधाऽपि यशसा यतो जितं, कार्मणं मुकुटकुड्मिल शशी ॥ १६
शान्तिसूरिरथ तत्पदश्रियो ऽप्यद्भुतानि कृतिषु शाखरोऽभवत् ।
उद्गृणन्ति महतोऽपि यद्गुणान्, निस्तृतामृतरसा रसाधिकम् ॥ १७
य सुदर्शनधरं हरिश्चमा-न्वासृजद् गुरुरिति स्वयं रतिः ।
कान्तसोमकलमांगशङ्कया, य जयीति मदनोऽपि नैक्षत ॥ १८
तत्पदेऽनिविदितप्रथावथा ऽऽनन्दसूर्यमरसूरिराजकौ ।
वासमन्दिरविलासमन्दिरं, श्रेयसा मुनिविभू बभूवतु ॥ १९
शैशवेऽपि मदमत्तवादविद्वारवारणनिवारणक्षमौ ।
यौ जगाद जयसिंहभूपति-व्याघ्र-सिंहशिशुकाविति स्वयम् ॥ २०
जग्मतोर्गगति निर्भरं ययो-र्यद्दवचमगमन् विवादिन ।
स यदि स्फुटयशानुवादतः, स्वस्य मन्दगुणतामदर्शयत् ॥ २१
तत्पदाम्बुरुहषट्पदा पदं, भेजिरेऽथ हरिभद्रसूरयः ।
यैर्विलङ्घ्य कुसुमानि कान्तिभि-र्लयैव कुसुमायुधो जितः ॥ २२
संयमप्रभृतिभिस्तथा गुणै-र्यैर्मनः पदमपूरि भूरिभिः ।
न प्रवेष्टुमिह मन्मथो यथा ऽन्तरतामपि गतः क्षमोऽभवत् ॥ २३
सन्ति सम्प्रति तदीयशासने, सूरयो विजयसेनसूरयः ।
उज्झितो जगति यैर्महाबल-मन्मथोऽपि मनमेदनोऽभवत् ॥ २४

सर्वतोमुखतपोहुताग्नैर्यैर्हुत स्मर इति क विस्मय ? ।
निर्जित पुरजिता पुरा यतो, नेनमानतुल्मिनाऽपि स ॥ २५
गम्यते तपनरम्यतेजस स्तस्य वदनविधि सया गुरो ।
देशना समधिगम्य तन्मुखाद्, धर्मकर्मणि निधीयते मन ॥ २६
इत्युदीर्य मनिभासुर पुरस्कृत्य कृत्यविदसौ सहोदरम् ।
कम्पयन् कलियुग मनोरथै रासमाद वसतिं मुनीशितु ॥ २७
द्वारमध्यमविशन्निषेधिका मुद्रिरन् गुरुमवेत्य तपुर ।
बाष्परुद्धनयन पदे पदे, सम्मदेन घनगद्गदोऽस्खलत् ॥ २८
दुषमाविषमतापतापिता, वीजयन्निव भरामसौ चिरात् ।
अञ्चलेन करचञ्चलेन स चक्रिवान् गुरुनमस्कृतिं कृती ॥ २९
दन्तदीप्तिपटलच्छलोच्छल-न्मूर्तिम सुकृतवर्मितामिव ।
बिभ्रदुद्दुरितराशिराशिप, निर्ममे तदनु निर्ममेश्वर ॥ ३०
सोऽभ्युदञ्च्य कथमप्यथ क्षिते र्भक्तिभारनमित शिरश्चिरात् ।
अग्रतो मुनिविभोर्व्यभूषयद्, युक्तमासनमयुक्तवासन ॥ ३१
आकलय्य गुरराक्षिका मुख-द्वारि निस्फुरितदन्तदीप्तिवत् ।
देशना सचिवभर्तुरग्रत कर्तुमारभत सूरिशेखर ॥ ३२
वीतरागमतधर्मकारिणि, साधुवृत्तगुरुभक्तिभासुरा ।
श्रावका कतिचिदात्मभावना-दान शील-तपसो भवन्ति चेत् ॥ ३३
दान शीलतपसा विजित्वरी, भावनैव भवनाशिनी भवेत् ।
सा पुनर्विरच्यते प्रभावना, सा तु सम्पदि सुखेन साध्यते ॥ ३४
अस्थिरा करभिका इव श्रिय, पातयन्ति नरकावटे नरम् ।
कश्चिदेव निपुण नियोजक, लङ्घयति विकया भवाटवीम् ॥ ३५
श्रावकत्वममल कुल करा चक्रवाटमपि कश्चिदुद्वहन् ।
सम्पदा ललनयेव लोलया, पीतमद्य इव मोह्यत जन ॥ ३६
श्रीलता शुचिवरेषु रोपिता, स्थानकेषु समये यथाविधि ।
पुष्पिताऽद्भुततरैर्यशोभरै-राशु पुण्यफलदेनवे भवेत् ॥ ३७
न स्थिरा क्वचन यान्ति सम्पद, सम्मिलन्ति रसवत् कथञ्चन ।
सम्पद प्रकटितप्रभावना, कस्यचिद् यदि भवति सिद्धये ॥ ३८
पावयन्ति परिकॢप्तभावना-दान शील-तपस स्वमव तत् ।
विश्वशासनविकाशदीपिका, व्यातनोति विरल प्रभावनाम् ॥ ३९

जल्पितानि बहुशः प्रभावना-कारणानि मुनिभिः पुरातनैः ।
उत्सवो भवति तीर्थयात्रया, तेषु शेखरमणिस्तु निस्तुषः ॥ ४०

सिद्धलोक इव सद्गता गतः, पूज्यते ननु जनो जिनैरपि ।
धन्य एव स तु तीर्थयात्रया, कोऽपि सङ्घपतिता निमर्त्ति यः ॥ ४१

दिक्पुरन्ध्रिमुकुराय कस्यचिद्, रौप्यदर्पणनिभो यशश्चयः ।
सङ्घसद्रदितरेणुमार्जना दिन्दुधामधवलो विलोक्यते ॥ ४२

सङ्घभर्तुरधिरोपितस्तथा, वर्द्धते सपदि पुण्यपादपः ।
दर्शयत्यमृतसन्निभं यथा, विष्टपत्रितयमौलिगं फलम् ॥ ४३

नागेन्द्रगच्छमुकुटस्य मुनेरनून-माकर्ण्य वर्ण्यमिति मन्त्रिपतिर्विचारम् ।
नत्वा स्वधामनि जगाम जिनेन्द्रयात्रा निर्माणनिर्भरमनोऽतिमनोरथश्री ॥ ४४

किञ्च—

वितन्वाते विश्वाङ्गणसदसि यावत् तव यशः
प्रतापाभ्यामभ्युल्लसितरुचिवादं विधु-रवी ।
भज स्थैर्यं सोमान्वयतिलक ! तावत् क्व सुकृते,
कृतैरेभ्यः सम्यक्त्वमिह गुण दोषैकनिकषः[1] ॥ १

ईदृक् कश्चिद् विपश्चिज्जनमनसि चमत्कारकारी पुराऽपि,
क्वापि प्रापि प्रबुद्धे वसुमति सुमतिर्वस्तुपालस्य तुल्यः ।
येन क्षीरार्णवार्णश्चयसिचयजुषः सिद्धसिन्धूत्तरीय
श्रीविस्तारोत्तराया व्यरचि शुभरुचि कीर्त्तिभिः कञ्चुकस्ते ॥ २

सच्चक्रनन्दकपुरोगदयाद्भुतश्री-स्त्वं वस्तुपाल ! पुरुषोत्तम ! जिष्णुरेव ।
तद् दूयते तु हृदि मेऽन्वहमेव शङ्खो, यत् सिन्धुराजतनुभूर्न करे गृहीतः ॥ ३

कविर्न को निस्तुषवस्तुपाल-यशः सुधानिर्झरसं रसज्ञः ।
प्रबन्धमास्वादयतेऽरिसिंह-मुखारविन्दैकमरन्दमेनम्[2] ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये धर्मोपदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

१ ख-ग-'धवलोऽवलो' ॥ २ ख-'लसितरुचिविवाद' ॥

स तीर्थयात्रासु मनोमनोरथं प्रकाशयन् सम्मदमेदुरोद्यमः ।
पुरे पुरे श्राद्धजनाय नायको, विवेकभाजां लिखितान्यलीलिखत् ॥ १
अवाहनानामपि वाहनावली-मशम्बलानामपि शम्बलं बली ।
अकिङ्कराणामपि किङ्करान् कृती, वितीर्य सङ्घे समवीवहद् बहून् ॥ २
अदोषधीर्मन्त्रिपतिस्तदौषधी-रमीमिलद् विश्वरुजां विजित्वरीः ।
बभूव ताभिर्द्विगमौषधीपतिः, स कौमुदीकोमलकीर्त्तिकारणम् ॥ ३
वृथैव वैद्याननवद्यवैभवान्, समं स मन्त्री जगृहे महेच्छया ।
प्रभूष्णुसङ्घक्रमरेणुराशिजं, तदाऽखिलव्याधिहरं तमोऽपि यत् ॥ ४
न यद्यपि प्रौढवृषप्रभावतो, भविष्यति स्पृष्टमनोभिदा क्वचित् ।
परोपकाराय तथाऽप्ययं कृती, युगादिसर्वज्ञकृताग्रहोऽभवत् ॥ ५
अथासितीव्रव्रतनिर्जितान्तर-द्विपो भवाम्भोनिधिकुम्भसंभवान् ।
मठेषु गत्वा स्वयमद्भुतादरः, समं शमीन्द्रान् समवाहयत् कृती ॥ ६
सतां पतिः सङ्घपतित्वरोपणा-भिषेकमासाद्य गुरोः कराम्बुजात् ।
शुभे मुहूर्तेऽद्भुतवाह्यवाहिनी-वृतोऽचलच्चन्दनचर्चिताकृतिः ॥ ७
ततश्चतुर्विंशतितीर्थकृत्कला-कलादितीर्थङ्करदेवतालयः ।
चचाल नृत्यादिविनोदतत्परः, प्रजामुदश्रुस्नपितेन वर्त्मना ॥ ८
पिबन् पयः स्व सरितो वियद्वने, शशाङ्ककान्तीस्तृणुते तृणोपमाः ।
विशृङ्खलो यस्य यशः किशोरकः, समं निगोमैकगुरुस्ततोऽचलत् ॥ ९
अथानुचेलुर्नरचन्द्रसूरयो, लसन्नसत्तोमविलोकनच्छलात् ।
दृशैव सिञ्चन्त इवाद्भुतक्रमां, प्रयाति सङ्घे वसुधां सुधान्तया ॥ १०
अथाचलन् वायटगच्छवत्सलाः, कलास्पदं श्रीजिनदत्तसूरयः ।
निराकृतश्रीषु न येषु मन्मथः, चकार केलिं जननीविरोधतः ॥ ११
भवाभिभूतेन मनोभुवा भया-दनीक्षितैः कृतभवाभिभूतिभिः ।
अचालि सण्डेरकगच्छसूरिभिः, प्रशान्तसूरैरथ शान्तिसूरिभिः ॥ १२
शरीरभासैव पराभवं स्मरः, स्मरन्नगस्यत् किल यस्य दूरतः ।
स वर्द्धमानाभिधसूरिशेखर-स्ततोऽचलद् गल्लकलोकभास्करः ॥ १३
सहस्रशीर्षोरगकल्पकीर्त्तयः सहस्रधामप्रतिमानतेजसः ।
सहस्रनेत्रप्रमुखामरस्तुताः, सहस्रशोऽन्येऽपि च सूरयोऽचलन् ॥ १४
चतुर्दिगापूरणभूरिनिःस्वन-श्चतुःसमुद्रान्तमहीतलागतः ।
ततश्चतुर्यन्त्रनिश्चलोऽचल-च्चतुर्विधः सङ्घजनो यथाविधि ॥ १५

वितन्वतः कासहृदाख्यपत्तने, महोत्सवं नाभितनूजसद्मनि ।
सहायतां प्रत्यश्रृणोन्महामते-रमुष्य धर्मकर्मणि देवताऽम्बिका ॥ १६

अथास्य सङ्घस्य विसर्पतोऽग्रतः, शताङ्गचक्रोचितचीत्कृतस्वनः ।
नदन्महोक्षध्वनिवर्मितोऽपि सन्, हयालिहेषाभिरलाभि लाघवम् ॥ १७

पवित्रमेतत् तिलकाय नित्यशः, परस्परस्पर्द्धिभिरूर्द्ध्वमुत्सुकैः ।
तदा सदारैः समवापि दैवतैः, मुदैव तैः सङ्घविहारजं रजः ॥ १८

अभूत् तदा सङ्घपदाभिपङ्कत-स्तथा कथञ्चिद् विरजस्तमा मही ।
यथाधिरूढाऽपि शिरस्यहीशितु-श्चकार नो भारमुदारविग्रहा ॥ १९

विभेद लोभेन भवान् भवान्तरै-र्यया प्रपेदे प्रतिघातपातकम् ।
पवित्रिता सङ्घपदैर्दिवं ययौ, मही स्वदेहेन रजोमयेन सा ॥ २०

महानयं सङ्घजनोऽचलत् कथं, धरिष्यथ क्ष्मामिति जल्पितुं तदा ।
गतैः समीपं किल रेणुभिः ककुप्-करेणुभिर्मेरुषु मदो निराकृतः ॥ २१

रजस्तदा विस्मृतसद्रसम्भवं, नभोनदीनीरगतानीरगर्भितम् ।
इहापि गङ्गाम्बुदत्याभि दुर्लभैस्यकर्षि सप्तर्षिभिराशु हर्षिभिः ॥ २२

द्विजेश्वरश्रीटनिपातकादिव, द्रुतं दिवः पांशुभिरर्कभानुभिः ।
पवित्रसद्धर्मगुणसङ्गमा-दसङ्गगूढ्र्ध्वंव गति' स्म तन्यते ॥ २३

विसर्पता सङ्घजनेन मेदिनी, पवित्रिता प्रयुक्तगर्णी ततः ।
उदस्य धूलीस्तपनातपं व्यधात्, व्यधाच तूर्णं मुनराजगङ्गिणी ॥ २४

चलाचलायां भुवि सङ्घसङ्गमात्, सदा तरत्थामिव धर्मवारिधौ ।
आक्रान्तेऽस्माकमपानाच्छन-शिरि स्म गृ यति मुशा महीमन' ॥ २५

अथापरान्यानि निशामितुं स्या-न्दनेन मदेन परोपकारिणा ।
दानाकृचमप्रथिर्गीस्याऽरनि विदार्यमाणा मरतं व्यकम्पत ॥ २६

अमुष्य सङ्घस्य विलङ्घनक्रियां, विलम्बतोऽपि प्रमदी बकर्मठ' ।
स्फुरत्स्फुरत्केतननिभेन भेजियान, दुर्वानि पुण्यानि नवद्रिर्गभागः ॥ २७

प्रमक्रमस्य विनतीं गर्वंग-वल्मवात्मृदुविशुभ्रितप्रम ।
पिदनं गूढकोट इव प्रमोदिन्, विनय मनी ज्ज्वलितथमथ्वाने ॥ २८

सुजन बन पूजन्सुमयोत्तुङ्ग, पुं पुं नीर्थरला एनाकृति ।
जनं प्यर्व्दिए मही मर्यादा-मर्मनस्मताज्जिनायनाकुल ॥ २९

सर्वीरमहोनर्निस्तनं निव प्रियो निव मन्नाम्नुकूलं अन ।
पुर, पुरं धर्मरूपस्य मन्दिरे, मिलन स्म सद्गुरुपदवंश क्रम ॥ ३०

अगण्यपुण्यैर्भवसिन्धुपारम्-रमुद्ययं लोचनगोचरो गिरिः ।
इति स्मयस्मेरहृदो विदस्तदा, ससम्भ्रमाश्चक्रुरहो ! महोत्सवम् ॥ ३१
गतोऽग्रतोऽस्मिन् दुरितैर्न्नाविलो, विलोक्य नाभेयनिकेतकेतनम् ।
जनस्तदा शर्मरसोर्मिविह्वलो, मदान्न किं किं रचयाञ्चकार सः ! ॥ ३२
ननर्त्त कश्चित् पृथुसम्मदस्तदा, सलीलल्लोलायितपाणिपल्लवः ।
प्रतिप्रतीकं परितः कुतूहला-दलं यथाऽऽलोक्यत पुण्यसम्पदा ॥ ३३
बहूत्पतत्पाद्युगस्तदाऽपरो, ननर्त्त दूरप्रसरत्करच्छदः ।
विधातुमुड्डीय नगाधिरोहणं, मनोरथी पत्ररथीभवन्निव ॥ ३४
मत्रभ्रमिभ्रान्ततरः शिरोगरा-ऽधिरोपितं पापभरं त्यजन्निव ।
इलामिलन्मौलिरसन्दसम्मदो, ननाम विश्रामविधित्सया परः ॥ ३५
विलोकयन् कोऽपि वृषध्वजध्वजं, मुहुर्मुहुर्मङ्क्षु नमत्नमन्दधीः ।
उदञ्चित-न्यञ्चितमौलिलीलया, रराज मुक्तिश्रियमाह्वयन्निव ॥ ३६
अमुत्र शत्रुञ्जयशैलसन्निधौ, भवार्णवस्येव तटे तदा परः ।
निरीयितुं पातकजातकर्दमा-ल्लुलोठ सर्वाङ्गमुदारधीर्मुदा ॥ ३७
समुद्भवद्भावरसादचेतन-श्चिराय गत्यादिविवेकवर्जितः ।
परः शिलापुत्रसमोऽपि बान्धवा-न्मोचि रिष्टैरपि रिष्टशङ्कितैः ॥ ३८
इहाथ पाथस्तृणराजिराजिते, जितेन्द्रियो मन्त्रिपतिर्महीतले ।
श्रमापनोदार्थमवापयत् तदा, निवासमासन्नममुष्य भूभृतः ॥ ३९
अथाभजत् खिन्नजनप्रमोदिनो, दिनोपतापे सचिवः स किङ्करान् ।
मरुत्वरात् पैपदेय तत्क्षणं, शिलिन्ध्रदन्तुरविडम्बिताम्बुदान् ॥ ४०
सुवंशसंयोजितरूपशोभिता, विचित्रिता धातुरसेन सर्वतः ।
पदे पदे पर्वतपादसोदरा, वितेनिरे पीवरचीवरालयाः ॥ ४१
अनांसि धर्मक्षितिपस्य वप्रवत्, पदे पदे मण्डलितानि रेजिरे ।
तृणं द्विपत्पापमिवोदमूलयन्, यतो विनिस्सृत्य वृषा मदा इव ॥ ४२
गिरौ गतिं पश्यत न. कुतूहलात्, कथं वृषा मुञ्चत भूतले समे[1] ।
इतीव चाट्टकिवृतग्रणं मुखे, वृषा न्यधुर्वेगति सारथौ पुरः ॥ ४३
नयेन सद्वस्य रसातलं यया, कथं समाकृष्यत साऽपि निम्नदे (?) ।
नवीनचुल्लीविवरापदेशतः, खनन्ति भूखण्डमिति स्म किङ्कराः ॥ ४४

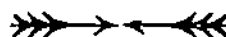
१ क-ख पुस्तके ४४ तम काव्य नास्ति ॥

प्रवृत्तनृत्ता प्रेमचलोर्मिपाणिभिः, प्रणीतगीता यमलाद्यषट्पदैः ।
तदा व्यधु स्वागतमागता जनं, विदम्भसम्भ प्रसरेण सिन्धवः ॥ ४५
तदाऽनपाकाय विकाशितशिखी, नभस्वत् वमौ सद्धजन निवासिनि ।
भरातनमन्द्रभिमिदास्फुटस्फुरत्फणी बहुड्डामणिरश्मिराशिवत् ॥ ४६
अथैष तीर्थङ्करदेवतास्य प्रमन्न्नमव्यादिनपूजनो जनः ।
मुदा नमस्कृत्य गुरुक्रमद्वयं, प्रचक्रमे शाश्वतकृत्यकर्मसु ॥ ४७
अदायि दानाय तदा धनं तथा, मनोरथार्तिमनेन मन्त्रिणा ।
यथा परे निश्चयवायिनो जना, वनीपकानामपि चाटु चक्रिरे ॥ ४८
स्वयं स कस्मैचन मोदकादिकं, घृतादि कस्मैचन शुद्धवासनः ।
फलादि कस्मैचन साधवे ददत्, तदा विशश्राम न मन्त्रिशेखरः ॥ ४९
अकिञ्चनः कश्चन याचते क्वचित्, किमहो ! शब्दमिति प्रदाय स ।
चकार भोज्यादिकमात्मना कृती तृतीययामक्षणपूरितेक्षणः ॥ ५०
अथ कृततनुकृत्य कौतुकोत्तानचेता, जिनपदमनुसङ्घ कल्पसङ्घन्मागात् ।
इह महमहिमाशुद्दैप्तकामो निकामं, गगनगमनविन्न प्रययद्दौ निषण्णः ॥ ५१

किञ्च—

पायं पायमहर्निशं रिपुयशःपीयूषपूरं भवान्,
कम्पायुः क्षितिकल्पवृक्ष ! भवनाद्वर्णमिल्लतालिङ्गित ।
श्रीसोमान्वयसोमनौक्तिकमथैरेव प्रसूनैरपि,
त्वत्कीर्तिप्रकरैरपि त्रिभुवनं सौरभ्यमभ्यस्यतु ॥ १
मायमायमरं [1] नाम्बरे यश, श्रावसन्त ! तव सन्ततस्मितम् ।
इयत्यमहिमानमानरो मानसाश्रयमहो ! महायसाम् ॥ २
सैमुच्छिनाभि खलु वस्तुपाल प्रतापदीपाञ्जनमञ्जरीभिः ।
इहोपकण्ठस्थितिभाजि शङ्के, माशिक्यमुन्मीलितमुत्वन्ऽपि ॥ ३
श्रीवस्तुपालप्रथितप्रसादासादन् प्रमोदामृतवारयो या ।
एतत्प्रबन्धच्छलतोऽरिसिंहस्ता एव मूर्ता स्तबकीचकार ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते। इमा यत्न चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये सङ्घप्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



१ ग प्रतौ ॥ २ ग-समुत्थता ॥

विरहशिखिसमीर कामनासौख्यवीर स्तिमिरतरुकुठार पूर्वदिक्कारहार ।
गगनगजनिषादी कामिनीचक्रवादी, सितरुचिरदितोऽय वर्धयन् वार्धितोयम् ॥ १६
इभकुलमिभमल्लोद्भासि कैलासशैला-कृतिमश्रृत नगौघं शेषवच्चोपसर्पान् ।
रुचिरमृतमरीचे सद्ममर्तुर्यशः श्री रिव धवलितविश्वा जाह्नवीं निह्नुवाना ॥ १७
वियदहनि वितनं स्वस्य विश्वस्य सद्ध-क्रमसमुदितधूलीमण्डलैर्मण्डनं यत् ।
सुकृतमिदमिदानीं मूर्तमभ्युद्यदिन्दु-द्युतिनिभमिति लेभे भिन्नमालिन्यमालम् ॥ १८
चिरमुपचितहर्षे सद्मलोकावलोका दिव कृतसुकृतोऽय व्योमचूडावलम्बी ।
सहजनिजकलङ्कन्यक्कृतिभ्राजमाना कृतिरकृत न केषा विस्मयं गोतरस्मि[1] ॥ १९
निशि नियतमियत्यामप्यमु सद्मलोक, कृतमहमिह भक्त्या जागरूकं विलोक्य ।
इयमधुनुत मौलिं विस्मिता व्योमलक्ष्मी ,कुसुममिव तदाऽस्मान् मन्दमभ्रस्यदिन्दु ॥ २०
गिरिशिरसि जिनस्य नन्तुकामस्य मा स्या-न्महमहह ! महत्त्वादस्य यानान्तराय ।
इति विसृमरभावभ्राजमानक्षणस्य, क्षणमपि न तमिस्रा सद्मलोकस्य जाता ॥ २१
चलितसकलताराळोकमामुक्तसन्ध्या दहनमिह विहायोमण्डलं द्राग् विहाय ।
सहजमहसि सूरे हन्तुमागन्तुकामे, परमपरमहीभृद्दुर्गमिन्दुर्गतोऽयम् ॥ २२
सजलजलदचारुर्वाहिणीरागभाज , क्षितितललुठितस्यामुष्य मुक्ताम्बरस्य ।
सुमरतिनिरवपो यञ्चना भर्तुरेष, त्रिभुवनभवना तर्दुर्यशोराशिरासीत् ॥ २३
स्फुटघटितकलङ्को यञ्चनामप भक्ता, त्यजति करगृहीतामप्युषा भूरिभुक्ताम् ।
इति बत ! कुमुदिन्य सारसौरभ्यशोभा-नालमुपभजु व्यादधुर्वधसन्धाम् ॥ २४
हरिहरिति रथाङ्गानन्यसङ्गल्पकल्प द्रुम इव दिवसश्रीमिन्दुमारम्भभाजि ।
जलधिसयिधगुप्ताऽशुमद्विम्बबीजा-दुदयत मृदुतज रंतवादङ्कुरोऽयम् ॥ २५
पतितवति पयोधिस्त्वरा हन्त ! रात्रि प्रियसुखनिधिभेदाद् दु खभाजि द्विजेन्द्रे ।
द्विजततिरविलापं निर्ममे तारकाणा, पथि कटकलुषंदधन्ती चिराय ॥ २६
अरुणमुपसि तुषारस्यन्दसद्भाग्भवतारा-वलिवलयितनीलश्या तदूर्वारगोप ।
गगनरथविहारोत्भृद्धलैस्यद्रि स्वर्गिकरिकिशोरैर्नेमस्त मुसभुर्क ॥ २७
भुवनभवनि भूनि मोंकित्वद्गाननाला, भुवि भवनमानामप्यवे नारकाणाम् ।
सपदि विगदमता निर्व्यन्तं नुनुबे स्वन्दयादगतिदासन्ध्यारुना भानुभास ॥ २८
मसृणकुसुमस्तबकपल्लवानुकारी, विकक इव गमुदन् प्राचिन्म मूर्धजना ॥
नयनभजत जम्भारातिरुन्मीलदुन्मन्दवदनेदुर्दिनक्षत्रवागानुम्भाद्दुग्धाभाम् ॥ २९
जलनिधिवलभ्यान् कुमुदोटपत्रघनकमसीन वमस्या भानुरम्बुजलाम ।
सपदि विरहसन्तानि विनिवय, प्रहीसिनसुखरसा पद्मनी रूपात स्म ॥ ३०

---

१ ग-भूर्मि ॥

अवतमसततीना मृत्युकालेऽपमृत्यु, कुवलयवलयाना जीवित पङ्कजिन्या ।
अलमकृत नभोऽङ्कं कोकलोकस्य सीता विरहितहरिशापानुग्रहोऽय ग्रहेश ॥ ३१
दयितमिति पुरस्ताद् वीक्ष्य भानु युवान, हरिहरिति हरिद्रारागमाग प्रकोपात् ।
स्फुटकमलमुखेभ्योऽमोचि नि श्वासधूमा वलिरलिनिकुरुम्बच्छद्मना पद्मिनीभि ॥ ३२
अजनि गिरिनितम्बे निम्बमर्कस्य धातु च्छुरितमिव सराग सूर्यकान्ताग्नितप्तम् ।
करजलपरिधौत चुम्बित चाम्बरेण, क्षणघटितसुवर्णादर्शवद् दिग्वधूनाम् ॥ ३३
सममसममयूखैर्भानुमन्त लसन्त, गिरिशिरसि विलोक्याऽऽलोकनीयप्रभावम् ।
स इव सचिवभर्ता सङ्घलोकेन साकं, विमलगिरिगिरोऽग्र गन्तुमभ्युत्सुकोऽभूत् ॥ ३४
सद्यो जिनक्रमनमस्कृतिलोलसङ्घ सङ्घट्टलोलवसुधातलसम्भ्रमेण ।
श्रीवस्तुपालगुणहृष्ट इवाचलोऽपि, शत्रुञ्जयः स्वयमकम्पयदेष मौलिम् ॥ ३५

किञ्च—

नित्य त्वद्वदनारविन्दसदन वाग्देवता सेवते,
　　त्व पद्माश्रयभासुरोऽसि जयति त्रैलोक्यसूत्र त्वयि ।
श्रीमच्चण्डपगोत्रमण्डन ! गुणैरभिर्भवान् ब्रह्मण,
　　साधर्म्यं वहति प्रियवद ! मदाशार्मिस्तदायुर्भव ॥ १
अलभत बत ! यस्मिन् सान्द्रदारिद्र्यपूर्णे गृहपतिरवकाश न प्रदोपक्षणेऽपि ।
वितरति सति वित्त वस्तुपाले कवीना मिह गृहकुहरान्तर्नैष रत्नाकुलेऽपि ॥ २
श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपाल ! भुजयोर्युग्मेन युद्धार्णव,
　　तूर्णं निस्तरतोऽपि ते समभवन्न व्याकुलत्व किल ।
यद्गादवगण्य निर्मलगुण शङ्ख त्वया मौक्तिक
　　स्तोमानामिव धैर्यधुर्य ! यशसा चक्रे महान् सङ्ग्रह ॥ ३
श्रीवस्तुपालसचिवेन्द्रयश प्रसून-माल्येऽरिसिंहकविना गुणगुम्फितेऽस्मिन् ।
कण्ठे सदा लुठति निर्मदुर्जनाली-वक्त्रप्रभा कति न बिभ्रति भृङ्गभावम् ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सूर्योदयवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



शैलमौलिगमनाय मनोऽथै-र्भ्राजमानमसमानविहारैः ।
प्रापदस्खलितमप्यसमेषु, द्राग् मनोरथरथं पथि सङ्घः ॥ १
भूरिधातुमयजङ्गमशृङ्ग-श्रेणिवद्विविधचीरविचित्रः ।
मन्दमन्दमथ सङ्घजनोऽसौ, सञ्चचाल गिरिराजतटेषु ॥ २
मञ्जुलैः कनककुण्डलकान्तैः, स्त्रीमुखैः सरवि सोमशताभैः ।
एकभानु-हिमभानुमनोज्ञं, मेरुमप्यजयदेष गिरीन्द्रः ॥ ३
अञ्चलैः शशिमुखीवसनानां, चञ्चलैः कटकसीमनि शैलः ।
सङ्घसङ्ग सुहृत्तामृतसेका-दुद्गतप्रथमपक्ष इवाभात् ॥ ४
आन्तरेण नयनेन जिनेन्दो-राननेन्दुरुचिपानपराणाम् ।
अप्युदारगिरिशृङ्गविलासे, न श्रमः समजनिष्ट जनानाम् ॥ ५
नाम नामसुधया जिनभर्तुः, प्राशया जनमुखेषु न तृष्णा ।
दूरवर्तिनि मुखामृतकुण्डे, लोचनानि तृषितानि जनानाम् ॥ ६
प्राग्नियोजितमनोहततीर्था-धीशपादकमलाङ्कितमौलिः ।
शैलसानुषु जनो न तदानीं, तापमाप तपनांशुततिभ्यः ॥ ७
क्रमागतेन लघुकं यददर्शि, क्षोणिभृच्छिरसि तेन जनेन ।
उच्चकैर्विचरता ददृशे तत्, सङ्घसङ्गममदादिव पुष्टम् ॥ ८
देवभक्तिभरनिर्मितहस्ता-लम्बनव्यतिकरेण मनोऽयम् ।
आसदद् गिरिशिरास्यतिहर्षा-न्मङ्क्षु सम्मुखमिवागतवन्ति ॥ ९
अद्भुतप्रमदशालिषु शैलः, शेखरस्थितिषु तेषु जनेषु ।
भूतिभर्त्सितमुखेषु स रेजे, मेरुवन्नरविच्छविपिङ्गः ॥ १०
कर्मवैरिविजयाय सतेजा, नाभिभूपदनखांशुविचित्रम् ।
आरुरोह सचिव- शुचिदन्तं, दन्तिराजमिव तं गिरिराजम् ॥ ११
वीक्ष्य यक्षमिह सङ्घजनौघ, श्रीकपर्दिनमथाब्धिरिवेन्दुम् ।
क्षुभ्यति स्म चतुरः स चतुर्धा, विस्तृतस्तरलहर्षतरङ्गः ॥ १२
अन्तरायदलनाय जनौघं, तीर्थसेवनकृतेऽभिपतन्तम् ।
द्रष्टुकाम इव वर्त्मनि दूरा-दारुरोह गुरुशैलशिरो यः ॥ १३
भावनासलिलशालिनि शश्वत्, तीर्थनाथपदपद्ममनोज्ञे ।
मानसे तनुमतां विलसन् यो, हंसवत् सृजति कामपि कान्तिम् ॥ १४
यक्षपुङ्गव ! स भवान् भुवनैक-त्राणकारणमकारणबन्धुः ।
वत्सलेव जननी जनमेनं, नाथ ! पालयतु बालमिव स्वम् ॥ १५

१. क-ख-°तटेषु ॥

श्रीकपर्दिनमिति स्तुतिपूर्वं, यक्षराजमभिपूज्य सहर्षम् ।
आशु सङ्घपतिरेष ससङ्घस्तीर्थनाथनमनार्थमचालीत् ॥ १६
उत्सुकैरथ जनैर्जिनचैत्यं, वीक्ष्य मङ्क्षु पथि गामिव वत्सैः ।
व्यक्तशक्तिरभसत्रुटितोच्चैः-कर्मबन्धतरलं प्रदधावे ॥ १७
सञ्चरन् भुवि न माति जनो यः, स्फूर्तिसङ्कुचितमूर्तिलनोऽसौ ।
द्रष्टुमाश्यनलिनं जिनभर्तु-श्चैत्यधाम्नि स ममौ सममेवः ॥ १८
दन्यमानमसमानविमर्दं, हृद् हृदा ननु मिथस्तनुभाजाम् ।
आत्मगङ्गभयमङ्गुरसत्त्वै-स्तारिभिरमोचि तदानीम् ॥ १९
पापपङ्कशमनाय जनानां, स्नानमन्तरकरोद् ध्रुवमात्मा ।
रोमवर्त्मसु जलेन विमर्दे, स्वेदपूरमिषतः प्रसृतं तत् ॥ २०
आबभौ घनघनाघनलक्ष्मी-रङ्गिनां प्रमदरोमविकारः ।
अन्तरस्थितजिनेन्दुरुचिश्री-निस्सरद्दुरितवामसतुल्यः ॥ २१
लोचनैस्तनुभतामिति खिन्नैः, प्राप्य जैनवदनामृतकुण्डम् ।
आशु वल्कलसवनैरिव रेजे, सम्मदेन विगलज्जललेशैः ॥ २२
तत्र तादृशि जनस्य विमर्दे, शक्यते भ्रमयितुं न करोऽपि ।
वीक्ष्य विश्वविभुमेनमनृत्यन्, भाविनो यदि मुदा मनसैव ॥ २३
स्वीयतादृशविमर्दसुदूर-क्षिप्तसूरकिरणः किल लोकः ।
रत्नभूषणविभिन्नतमिस्रो, भक्तिकृत्यमकृत प्रभुचैत्ये ॥ २४
धूलिधूसरपद एव तदानी-मागतो जिनपतिं प्रणिपत्य ।
दूरपूरितमनोरथवेग, स्तोतुमारभत मन्त्रिवरोऽसौ ॥ २५
त्वद्गुणान् गदितुमीश ! समग्रान्, न स्वयं सुरवरोऽपि समर्थः ।
गोचरोऽप्यसि न मादृशवाचां, मौनमेव हि तव स्तवहेतुः ॥ २६
त्वां निरर्थकगिराऽपि तथाऽपि, स्तौमि विश्वनुत ! मुग्धतयाऽहम् ।
प्रीतये निजशिशोः स्फुटलाला-न्मासि लल्लरवचांसि गुरूणाम् ॥ २७
न क्षमोऽयमहितानपि हन्तुं, स्वं कुटुम्बकमय च मुमोच ।
जल्पिता जिन ! परैरिति दोषा, प्रत्युत स्तवनतां तव जग्मु ॥ २८
भाषितं भुवनभूषण ! भित्त्वा, कर्म निर्ममपते ! भवतेदम् ।
श्रूयते त्वदभिधाऽपि कदाचिद्, यत्र तत्र न करोति निवासम् ॥ २९
नाऽऽप्नुवन्ति भवबन्धनिकेता-द्ग्रतस्तव गतस्य पदं ये ।
भ्रम्यते भ्रमवशाज्जिन ! मुक्त्यै, तैर्वृथैव पृथिवीवलयान्तः ॥ ३०

त्वं मनोभवमपास्य पुनस्त्वं जन्मभीरसुच स्वमनोऽपि ।
किं हरन्तु हरिणीतरलाक्ष्य स्तावकं तदमनस्ककिरीट ! ॥ ३१

प्राप्य रत्नमिव पुण्यपयोधे-स्त्वां हृदि प्रणिदधाति जनो यः ।
स प्रयाति पुरुषोत्तमभावं, पश्य न स्वपिति किन्तु भवाब्धौ ॥ ३२

यामवाप्य न नमामि भवन्तं, तां न निर्वृतिमपि स्पृहयामि ।
त्वत्प्रसादवशतस्त्वयि भक्तिं र्भानु मे जिन ! भवेऽपि भवेऽपि ॥ ३३

निर्मितस्तुतिरिति प्रतियातः, कृत्स्नमेष सुकृती कृतशौचः ।
स्नानहेतुकलशान् घुसृणाम्भः-पूरितानयमचीचलदिन्द्रैः ॥ ३४

श्रावकाः प्रतिपदं हृदयाग्र-न्यस्तहस्तधृतकाञ्चनकुम्भाः ।
निस्तरीतुमिव सप्ततिसिन्धुं, कुर्वते स्म निरपायमुपायम् ॥ ३५

शुद्धसद्मपतिकीर्तिलतानां, विष्टपत्रितयगर्भगतानाम् ।
आतपत्रपटली विमलश्री-रादिकन्दवदिव विरराज ॥ ३६

अत्युदारतरनर्तनभावै-रुत्सवेन महता प्रहताघः ।
प्राप मन्त्रितिलकः किल कर्म प्वसिनो जिनपतेरथ चैत्यम् ॥ ३७

कुङ्कुमाम्बुभिरसिस्नपदीशं, श्रावकैः सह यथाविधि मन्त्री ।
तैर्विधौतमनुरेप तदाऽभूत्, पर्वतो विमल इत्युचिताह्वः ॥ ३८

अङ्गमण्डनमखण्डनमासीन्निर्मितं मृगमदैर्जिनभर्तुः ।
वल्कुसन्नहनसन्निभमुच्चैः, कर्मकूटरिपुकोटिजयाय ॥ ३९

भूरिपुष्परचिता जिनभर्तु-र्लम्बिता कृतिभिरर्चनमाला ।
अग्रभूष्णव इव स्मरमुक्ता, भल्लयो वपुषि भूषणमासन् ॥ ४०

तैस्तथा जिनगुरुस्तिमिरैरपि निर्मितेऽथ घुसृणधूपकधूमैः ।
सस्पृहेव सचिवं सुकृतश्रीः, कौतुकादभिससार यथाऽसौ ॥ ४१

आरात्रिकं कृतमथ प्रथमस्य तीर्थ-भर्तुः पुरः स्फुरदुरुद्युतिचक्रवालम् ।
उच्चावचप्रसरणैर्निजधाम सद्म-दीपद्विपं कुसुमवृष्टिविराजमानम् ॥ ४२

इत्थं प्रेक्षणकक्षणाहितमना सम्पूज्य विश्वत्रयी
पूज्यं नाभिसुतं समाप्य च तथारूपामिहाष्टाह्निकाम् ।
मन्त्रीशः प्रतिलाभितव्रतिततिः शत्रुञ्जयोर्वीधरा
दुर्त्तीर्णे कृतमङ्गलः समजनि श्रीनेमिसेवोत्सुकः ॥ ४३

किञ्च—

शौर्यैर्वज्रधरस्य दैत्य-भरतामाचार्ययोः प्रज्ञया,
दानैर्देवगवी-मणि क्षितिरुहां स्वर्गाधिरं गर्वितः ।

एकेनैव विभूषणेन भवता श्रीवस्तुपाल ! क्षिति-
स्त्वं निर्जित्य मुदा तवाऽऽशिषमदादेवं मेदायुर्भव ॥ १

कल्पान्तोद्भ्रान्तभास्वत्करनिकरनिभो विभ्रमन्तः समन्तात्,
सन्तापस्त्वत्प्रताप-ज्वलदनलभवः केन शक्येत सोढुम् ? ।
मन्त्रिन् श्रीवस्तुपाल ! त्रिजगति यदि ते कीर्त्तिलेखैव न स्या-
दन्तःपीयूषपेया बहिरपि च मुहुश्चन्दनोद्वर्त्तनानि ॥ २

मासि दौस्थ्यतरुखण्डखण्डनै-र्वस्तुपाल ! भुवि दानिकुञ्जर ।
चित्रमत्र किमु शत्रुमर्दनं, यत् त्वया क्रमणलीलया कृतम् ॥ ३

काव्यमेतदरिसिंहनिर्मितं, सर्वतोमुखतयैव रङ्गभूः ।
वस्तुपालसचिवेन्द्रकीर्तिभि-र्नर्त्तकीभिरिव यत्र नृत्यते ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये शत्रुञ्जयदर्शनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



सचिवः समं सपदि सद्वजनै-रथ देवपत्तनमगान्नगरम् ।
प्रणनाम कामजयिनं नयन-प्रियमिन्दुलाञ्छनमिहोत्रमहा ॥ १

विधुमौलिमौलिविधुधामभरै-रिह मे भविष्यति सदाऽभ्युदयः ।
इति पाथसामसुमसुत्र पतिं, कृतवासमैक्षत स मन्त्रिपतिः ॥ २

इह सोमनाथमुकुटोल्लसितैः, सरिदम्बुभिर्विधुविभाभिरपि ।
सततप्रवृद्धविहरल्लहरी-निवहध्वनिध्वनितदिग्वलयम् ॥ ३

सततान्तरालशयविष्णुवपु-र्विभवर्द्धिमाभिरिव मेचकितम् ।
उदयत्तदीयशयनीयफणि-स्फुटरत्नरश्मिराशिनिभफेनधरम् ॥ ४

सलिलेन विश्ववलयप्रलयः, समये मयैव रचनीय इति ।
मुहुरीरितापद्वतवीचिभरै-र्जनयन्तमन्वहमिहाभ्यसनम् ॥ ५

पुरुषोत्तमो हृदि मदीयसुतः, गिरसीधरोऽपि विदधाति सदा ।
प्रमदादुदारतरगर्भमिव, प्रकटं नटन्तमिव वीचिकरैः ॥ ६

अयि वज्रभाजि कुपिते चुपतौ, द्रुतरक्षणं क्षितिभृतामभितः ।
स्फुरितोर्मिबाहुमिति कीर्तिततो-र्जगति क्षिपन्तमिव फेनमिषात् ॥ ७

१ ग-महायुर्भव ॥

नयनामवर्त्मनि परिस्फुरतीं, दुरितान्धकारपटलीं विकटाम् ।
दलयन्ति मे त्रिजगदीश ! कदा भवदीयपादनखदीपशिखाः ? ॥ २३

भुवनैकनाथ ! भवदीयवपुर्विपुलप्रभापयसि मग्नमपि ।
द्वितयं कदा नयनयोरिह मां, हिमहारतारगुण ! तारयति ॥ २४

तदपीयत श्रुतिपुटेन यदा, सततं विषण्णहृदिवपद्धदि ते ।
भवदङ्गदीप्तिममुना यमुना-जयिनीं धयामि नयनेन कदा ? ॥ २५

नलिनादिपुष्पनिवहेन सुरै-र्यदपूजि पादयुगमीश ! तव ।
जिन ! तेन पङ्कजनिभेन कदा, जनयामि पूजितमिवाऽऽत्मगिरः ॥ २६

इति गद्गदाश्रुपुलकाकुलित, कलयन् मनोरथमनन्यमनाः ।
सचिवः शिवातनयमात्तनयः, क्षणमेकमैक्षत पुरोगमिव ॥ २७

अथ कल्पिताखिलविभातविधि गिरिमारुरोह सह सद्गजनैः ।
सचिवो जिनक्रमनखेषु पुरोगमितेन दृष्ट इव मङ्क्षु दृशा ॥ २८

तदनु प्रमोदरभसेन रजःलुतपाद एव विननाम जिनम् ।
अपि चैष नेत्रगमिताक्षणप्रसरक्षणं निभृतमीक्षितवान् ॥ २९

रचिताङ्गशौचविधिरिन्द्रिगणैः, सहितो जिनस्नपनहृत्तुरथ ।
जिनभक्तिरागमिव मूर्तमसौ, कलशेषु कुङ्कुमजलं न्यदधात् ॥ ३०

अथ केऽपि भक्तिभरभासुरिता, स्फुरिता जिनस्य पुरतः परितः ।
स्वयमुत्सवं विदधिरे मधुरध्वनिगीतिरीतिमयवाद्यमयम् ॥ ३१

वदनाग्रभागगतपाणियुग-स्थितभेरिदण्डमिपदन्तकरः ।
गुगुमे करीन्द्र इव मन्द्ररव , किल कोऽपि पापतरुपातपटुः ॥ ३२

अपरः पयोदरववादभव-निनदं मृदङ्गमपि वादितवान् ।
ननृते दरद्दुरितमोगिशतैः, कृतिनां मनोनयमयूरकुलैः ॥ ३३

अपरस्य वंशमपि वादयतो, मधुरस्वरैः प्रमदिनां रतिनाम् ।
यदमीलि परपुटकेन रसात्, तदवैमि कर्ण इव नेत्रयुगे ॥ ३४

अपरः पिबन्नपि शिवातनुभू-वदनेन्दुदीधितिसुधा स्थिरदृक् ।
मृदमुज्जगार जनयन् जनताहृदि सम्मदं ललितनर्तनमिषात् ॥ ३५

चटुला नटी सरसहावरसा-दिह रत्नभूषणगुभा गुगुभे ।
कुलदेवतेव तडिना तरला, जलदप्रवृत्तेर्जिनसेवनतः पुनः ॥ ३६

इति सम्मदेन जिनमज्जनपर्व, पुरगाम्युनि दर्शयति स तथा ।
करिणो यथाऽधमपि रैवतकः किल दर्शयन्सरसो दद्दशे ॥ ३७

स्वहृद प्रमोदविद्यदस्य रसात्, परमाणुभि पुर इव प्रसृतै ।
सचिवेन सारधनसाररसैर्नवमङ्गमण्डनमकारि विभो ॥ ३८

कुसुमायुधस्य कुसुमानि मनागपि सम्मुखानि नहि यत्र ययु ।
इह तानि तीर्थकृति सङ्घटयन्, स बभौ कृती मदनतोऽप्यधिक ॥ ३९

यमुनौघसङ्गमधिया सचिव प्रथितऽथ धूपमयधूमभरं ।
प्रमदेन तत्क्षणमकारि नभ सरिदम्बुनि द्युनिनि सवनम् ॥ ४०

अथ तामस कवचित्त चलिता ज्ञनरैतवन मग्नमुदिरता ।
नवदीपिकापरिकरेण चिर, निरराज यज्जिनमय सचिव ॥ ४१

स्फुटमष्टकर्ममथनोऽर्यामिति, प्रथयन्निहाष्टदिवसानि महम् ।
स्वयमष्टमूर्तिमुरुबिन्दुसम, सचिवोऽष्टमु न्यधित दिक्षु यश ॥ ४२

सचिवस्य दास इव गन्धजितो, जगवाह एष गिरिमूर्ध्नि वहन् ।
न ववर्ष सद्धजनतार्चितभयात्, त्रुटिताम्यपूरि सलिलानि पुन ॥ ४३

देया स्वामिन् ! पुनर्म सुरतपुरपुरोढौकनानीति जल्प-
न्नानन्दस्यन्दसारैरिव घटितमना नेमिनाथं प्रणम्य ।
नाम नाम निकाम विधिवदनिधुर मन्त्रिमान्योऽप्यमस्या
न्मान्यस्यमुप्यानापि पुलकवपु पर्वतादुत्ततार ॥ ४४

अथ गिरीशतटीषु मनीषिणां, परिवृढः परिपूर्णमनोरथः ।
षडपि तत्र ददर्श ऋतून् कला-शुचिरयं चिरयन्त्रितविभ्रमान् ॥ १

प्रकटितायसकर्त्तरिका मधौ, मधुसखस्य भटा इव किंशुकाः ।
भ्रमरसङ्गसितेतरविस्फुरत्-सुमनसो मनसो ददते मुदम् ॥ २

इदमभूद् दलयन् नलिनीः प्रियाः, मम मह-परिखण्डनहेतवे ।
इति हिमस्य भिदामहिमद्युतिः, स्म तनुते तनुतेजितविष्टपः ॥ ३

स्मरशिखी तनुमानिव चम्पकः, कुसुमितो मधुपावलिधूमितः ।
दहति काननसीमनि काञ्चन-च्छविरहो ! विरहोषितयोषितः ॥ ४

स्मितसरोजमुखीमुखवासना-सुरभिमद्यविशेषितसौरभम् ।
परिहृतापरवल्लिमधुव्रती-धवकुलं बकुलं प्रति धावति ॥ ५

सुमनसां त्वमसि स्थितिभूस्त्वया, जयति विश्वमसौ कुसुमायुधः ।
मधुमितीह रसालरसालसा, पिकवयः कवयः कथयन्त्यमी ॥ ६

स्मरनृपस्य चरत्वमुपागता, द्विजचया मधुरध्वनिशालिनः ।
मधुलिहः सुमनस्सु ददुः पदं, तिलकजालकजातविभूतयः ॥ ७

दधुरनङ्गनिषङ्गतुलामथो-मुखगिलीमुखराजिविराजिताः ।
स्फुटविकाशमुखाः कमलाकराः, न पथि कं पथिकं प्रति भीतये ॥ ८

स्तुतगुणं कुतुकेन मधुव्रतै-रिव रचाकुलितैः सुमनोमयम् ।
मधुसखाय मधोर्विनियोगतः, शरचयं रचयन्तितमां लताः ॥ ९

व्यथयति प्रथितारुणतेजसो, दहनमन्त्रमयादिव शब्दतः ।
मधुसखोऽयमशोकलताल्लसत्-कुसुमतोऽसुमतो विरहातुरान् ॥ १०

मलयजद्रुमसङ्गिभुजङ्गम-स्फुरितफूत्कृतिसम्भ्रमसम्भृतः ।
पथिकलोकदृशां मलयानिलः, सुविषमो विषमोहमिव व्यधात् ॥ ११

कमलकोमलकोशकुचोन्नतै-रलिकलालिकशासितसम्पदः ।
व्रततिकातनिकायवनश्रियो-ऽधिकमशोकमशोभत फाल्गुनः ॥ १२

कमलकान्तिहरीं कृशतां नयन्, सह हिमाद्रिदिनेन विभावरीम् ।
कमलबन्धुकृतोन्नमनो बभौ, शुचिरयं चिरयन् दिवसश्रियम् ॥ १३

द्रुतसमेतदिनाधिपतिप्रभा-परिगलत्तरशीतनभीरुणा ।
अनिलकोलशिरीषरजश्छलाद्, द्विरदनाल्लक्ष्यो मधु ॥ १४

अहनिहारुणभासि सितेतरो, हन्त ! विभाम्यत्र सितच्छवी ।
भ्रमति भृङ्गयुवा नवपाटले, विचकिले च विभर्ति मुहुर्मुहुः ॥ १५

१ ग-पथिकलोक°

तरलतारलतागृहपङ्कजच्छदनचन्दनचन्द्रमरीचिभिः ।
तपनतापनताकृतिरप्यसौ, रतिवरोऽतिवरोरुषु जृम्भते ॥ १६
नभसि दर्पणतुल्यतडिल्लता, जलदपङ्क्तिरङ्गतडम्बरा ।
मदनसैन्यगजव्रजवद् बभौ, कृतरवा तरवारिसितेतरा ॥ १७
वियदमीमिलदर्कनिशाकर-द्वयमये नयने भयतो मृहाम् ।
यदतुला तडितं घनमालिका विकरवा करवालमिवाक्षिपत् ॥ १८
यदयमेतदवाप्य तपस्विना, हृदि हतोऽपि जिजीव मनोभव ।
अपि भुजङ्गभुजा शुशुभे सुधा-ध्वचन वचन शिखिना तत ॥ १९
मदमिवर्धितसिन्धुमहीरुह-व्रजविशोषकमेतदिति क्रुधा ।
अधिककर्ममह सहमा घनै, कवलितं वलितं तडिता मिषात् ॥ २०
अपरता परतापकृकण्टिका-हृतककेतककेलिषु षट्पदी ।
अमलकोमलकोरकसौरभस्थितिषु जातिषु जातरसाऽभवत् ॥ २१
मलकुलोलमधुव्रतमञ्जुलाऽम्बुजमुखी जघनोच्चलसैकता ।
शरदि हंसरवेण समाश्रिता, धृतरसा तरसा तटिनीवधू ॥ २२
क्वचन भर्तरि याति तपात्यये, घनघटाश्रुजलानि मुमोच न ।
विरहरुद् दधती तपनव्यथा प्रदममन्दममङ्गलशङ्कया ॥ युग्मम् ॥ २३
पदमधत्त गतस्य पयोमुच, सुहृदयं यमसौ शिखिना गज ।
गलितपत्रमयातपवारणैररिमिव विभवं महसा क्षिपन् ॥ २४
समुदिते मुदितेऽम्बुरुहि प्रिय कुवलय वलय सरिता तथा ।
अभूत सम्भृतसम्पदयं यमाच्छविमल विमल च विधुर्मह ॥ २५
खरुचिर्विजयाय निजद्विप, सहसि साहसिकीं रिमावरी ।
प्रतिदिनं परितः परिवर्धितो रमहिमा महिमानमुपाययौ ॥ २६
तुहिनमन्दतरा मलिनभ्रमिनी-मलिनि भुवनि रागपरामपि ।
करिकाभिरहो[1] शतपत्रिका, सह सितं हसितं परितन्वते ॥ २७
पदमकारि मुखं सुदृशां सदा, विमलकान्तिनि कुङ्कुमसङ्गिने ।
हिमरुचः कमलस्य च सम्पदा, हृतनिकामनिकारनिनुन्नया ॥ २८
तुहिनवाहिनया हनुवातभी-द्रवितकुचितकुङ्कुमकैतवात् ।
परतनूरतनूष्मणि भास्वरा-तपनति घनति स्तनमण्डल ॥ २९
हिमभरस्य तपःप्रविनोन्नत-घनमहीन्द्र इव मुञ्चो नृप ।
निजरिपराणि निर्गमनायम, दिनकरो न करोति कथञ्चन ॥ ३०

घ अपि भु ॥ २ एतत्पद क-ख पुस्तकयोनास्ति ॥

पुलककम्पितसूक्तिभिः परि-ष्वजनकर्म दिशन् हरिणीदृशाम् ।
हिममयः पवनो ननु कामिना-ममितकामितकारणतां ययौ ॥ ३१
पथिककाननजन्ममनोभव-ज्वलनसम्भवधूमभरोपमम् ।
नवलवङ्गरजः पवनाहृतं, जगति रङ्गति रङ्गितषट्पदम् ॥ ३२
दिनमयं नमयन् सहसा कृत-स्मरजनी रजनीः परिवर्धयन् ।
विरहितारहितासु सुखोर्मिका-रसमयः समयः शिशिरो मृशम् ॥ ३३
सततकुसुमितान्तृतूनशेषा-निति समकालमिहावलोक्य मन्त्री ।
अधुनुत विदितप्रभुप्रभावा-तिशयविचारचमत्कृतः किरीटम् ॥ ३४
शैलेऽस्मिन् पुरुहूतपौरमिथुनैर्मन्त्रीशनिर्मापित-
श्रीमन्नेमिजिनेश्वरोत्सवभवत्कौतूहलाकारितैः ।
रन्तुं नित्यषडृतुभूतिविभवद्वल्लीभवल्लीलया,
सानन्दैरतिमन्दनन्दनवनीमुक्तस्पृहैः सस्पृहे ॥ ३५
कुसुमावचायमनसां श्रवणे, सुरयोषितामथ सरोजजुषि ।
कुसुमादुपेत्य निभृतध्वनयो, दधतीव भेदमलिनो मलिनाः ॥ ३६
वयमेव शस्त्रपदवीं गमिता, मदनेन सम्प्रति किमेभिरिति ।
अवचिन्वते स्म कुसुमानि तदा, रमणैः समं सुरकुरङ्गदृशः ॥ ३७
नववृक्षमूर्ध्नि यदकारि तप-स्तपनातपेन धृतरागभरैः ।
तरुणीकरग्रहणपुण्यफल, नवपल्लवैरिदमलाभि ततः ॥ ३८
नवपल्लवा निजविभूतिहृतो, वनवर्तिनः स्फुटमशोकजुषः ।
परिकम्पिनो हठवशादरुणै-स्तरुणीकरैर्विभिदिरे रभसात् ॥ ३९
कुसुमार्पणेषु रमणः सुदृशा, प्रथितेऽन्यनाम्नि लघुतां गमितः ।
हृदयात् तदान्वितस्नेन सह, श्वसितेन तूलवदकर्षि बहिः ॥ ४०
ददता प्रसूनमपराभिधया, दयितेन वज्रनिभयाऽभिहते ।
हृदि मानिनी ननु विधाय दृशं, सजलामवागतनुत श्वसितम् ॥ ४१
उदितं प्रियेण निभृतं चतुरा, परगोत्रमश्रुतवती च रहः ।
तदुरस्थपुष्परजसि श्वसितं, व्यथिताधमधु च तदुड्डयने ॥ ४२
सृजता स्रजं शिरसि पद्मदृशो, मृदु चुम्बता प्रियतमेन परा ।
अपि शेमुषीक्षुधतया न रसाद्, ददृशे परा न तयाऽपि रुषा ॥ ४३
सकलस्वकीयकुसुमस्वहृति-प्रतिपन्थिनीः प्रति मृशं सुदृशः ।
अमुचन् शीलिमुखशतानि लता-, समभूषयन्नहह ! तान्यपि ताः ॥ ४४

अथ काननान्तरविहारभव-श्रवखेदभेदरभसेन ययु ।
दयितै सम मृगदृशोऽम्बुनिधि प्रतिहस्तकं सवनहृतु सर ॥ ४५

तरुणीसमागमवशेन जवात्, किल पल्वलोऽजनि मुदा द्विगुण ।
विलसत्तरङ्गकरकोटिरय, क्षिपन् निजा कमलिनीदयिता ॥ ४६

अतिदूरत सरभस रसभाक्, समुपेत्य लोलविषयव्यसन ।
कुचयोर्विलुठच सुदृशा निलय, प्रययौ तरङ्गनिकर सपदि ॥ ४७

दयितेषु तोयजवनेषु गते, रभसेन यत्र कलहसकुल ।
सरसी रराज सुदृशा वदनै, कुचमण्डलैरपि च फेनभरै ॥ ४८

हरिणीदृशा कलितरागभर, कुचसङ्गमेन परिवृद्धरसम् ।
बुडदम्बुजन्मकपटेन सर, परिमील्यत्यतिसुखीव दृश ॥ ४९

अवलोक्य कोऽपि रभसेन जन, विपरीतलोचनमुदाररस ।
हरिणीदृशा श्रुतिसरोजकृता-ननचुम्बनव्यतिकरो हसित ॥ ५०

अभिषेचनेन नयनप्रसृति प्रसरत्कटाक्षरसतोऽनुपति ।
अपरा सखीं प्रति करप्रसृति च्युतनीरशून्यजलकेलिरभूत् ॥ ५१

द्रुतमुद्गतेऽम्बुजमिति प्रकट, त्रुटितस्य वारिणि करे कमितु ।
विदितस्य वीक्ष्य मुखमस्य नवा, रमणी न किं किमकृत त्रपया ? ॥ ५२

इत्थकेलिरसप्रसन्नमनस स्वर्गौकसो भास्कर,
याते‍ऽप्यम्बुनिधि सर कुमुदिनीबोधप्रवृद्धश्रिया ।
श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपालयशसा शुभ्रे सदैवाम्बर
क्रोडे वैभवपिष्टपिष्टपतय स्तोमेन जग्मुर्दिवम् ॥ ५३

किञ्च—

आस्ते यावदखर्वपर्वतघटा गुर्वीयमुर्वी भरा,
तावन्नन्दतु वस्तुपाल ' जगतापुण्यैरगण्यैर्भवान् ।
येनैता भुजगाधिपल्लव भुजे विन्यस्य नागाङ्गना
गोष्ठीमौनमपास्य श्रुतिरसैराचान्तचित्तोऽभवत् ॥ १

आजन्मापि कृतावृत्ति द्विजपतिं स्व मूर्धनि स्वर्धुनी
धौते धारयते जगत्पतिरसावद्यो गुणग्राहिणाम् ।
सद्य सन्ततमन्वमु यमुभरै पुण्यानि पुष्पा शिरो
नूत्ना दानवतामुभावपि गुणावती यमन्ते गुणी ॥ २

श्रीवस्तुपाल ! रणभाजि भवत्कृपाणे, धाराधरेऽपि परवारणविभ्रमेऽस्मिन् ।
उत्पत्य कोपतरलं सहसा जगाम, खङ्ग्रामसिंह इति स स्वयमेव भङ्गम् ॥ ३

वस्तुपालसुकृतामृतप्रपा, काव्यमूर्त्तिररिसिंहसूत्रिता ।
कण्ठदघ्नरसपायिनः शिरः, कम्पयन्ति किल यत्र कोविदाः ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये षड्ऋतुवर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥



तदनु वदनकान्तिन्यक्कृतेन्दुः कृतीन्दुः, समुदितमदपात्रे पूर्णयात्राभिलाषः ।
इह विहितनिवासः काशसङ्काशकीर्तिः, क्रमितविततकर्मा निर्ममे सद्मभोज्यम् ॥ १

मलयजमयमम्भः पादयोरुत्तमाङ्गे, घनमथ घनसारं चीवरं चारु चाङ्गे ।
यश इव निजमीदृग्रूपमारोप्य तेन, स्वयरसमुपनीताः साधवोऽगाधबोधाः ॥ २

सन्नं यत्र तदापि रत्नकनकस्तोमैरतुच्छाशये,
तस्मिन् यच्छति वाञ्छनाधिकतरं दीनेषु दूरादपि ।
मन्येऽपूरि ततो गभीरिमजितो रत्नानि रत्नाकर-
स्तस्य स्थैर्यनिराकृतश्च करदो हेमानि हेमाचलः ॥ ३

किं सूते कर एव हेमनिकरं श्रीनेमिभक्तिक्रिया-
तुष्टै रैवतकाधिदैवतकुलैः किं वा निधिः पूर्यते ? ।
इत्थं याचकसञ्चयस्य किमपि स्वस्यापि वाञ्छाधिकं,
तस्मिन् यच्छति खेनरेष्वपि चमत्कारश्चकार स्थितिम् ॥ ४

तदानीं दीनौघे मुहुरपि गृहीत्वा बहुतरं, स्वयं निर्विण्णेऽस्मिन् ददद्यमनिर्विण्णहृदयः ।
अहो ! किञ्चित् कोऽपि क्वचिदपि न याचेत वचनं, निरादुर्श्चार्येदं धवलकपुरे गन्तुमुदितः ॥ ५

दुष्कर्माद्रिपविः पवित्रमहिमा नास्यां कदाचिन्महा-
मोहध्वान्तरविः प्रविश्यति भृशं सद्मो महोत्साहवान् ।
इत्थं पापलिपिं विलुप्य करणे भालोपमं वामन-
स्थल्याः पुण्यदिनं चकार सुकृती कुर्वन् प्रवेशोत्सवम् ॥ ६

कर्पूरागुरुधूपधूमपटलैरुल्लिख्यमानैः प्रति-
ग्रामं तीर्थकृतामनेन कृतिना ये जज्ञिरे वारिदाः ।

तैरेव त्रुटिते जल पथि तथा प्रेम्णैव पृष्ट यथा,
सपूर्णानि सरोवराणि न पुन सिक्तोऽपि मार्गोऽनसान् ॥ ७

स्वस्थानप्रसृतस्वनल्लभजनप्राग्भारसघ परा रम्भारम्भपुर प्रसृ चरमनोवेगावक्रष्टैरिव ।
साकं सद्जनै समुच्छ्रितमोभारैस्तदौ सुख्यतो, गच्छद्भिर्धवलक्ककाभिधपुरोपान्त प्रपेदे कृती ॥ ८

स्मेरत्कास्मीरनारच्छुरितपथतया रागमासाद्य सद्यो,
लीलालोलपताकाञ्चलतरलचमत्कारिचञ्चत्कटाक्षा ।
जातक्षोभा पुरीय सविपुलपुलकाकीर्णदूवाङ्कुराग्रै,
प्राप्ते श्रीवस्तुपाले सति सचिवशचीवल्लभे वल्लभेऽस्मिन् ॥ ९

इय सर्वाङ्गीणप्रगुणितविभूषा किल तदा, तदाश्लेष यावत् क्षणमिव पुरी भासुररसा ।
अभूद् त शून्या हृदय इव याते पुरजनै, सम श्रीमन्त्रीश प्रति सरभस वीरधवले ॥ १०

श्रीवीरधवल-तेज.पालाभिधसचिवमध्यग सचिव ।
त्रिपुरपरीतिस्थापितहर इव हरति स्म तत्र मन ॥ ११

भास्वत्त्रिस्थानभेरीमुरजभरजनिध्वानसन्तापभाति-
भ्रष्टाहङ्कारदेवीकृतरभसपरीरम्भसरम्भहृष्टै ।
शक्राद्यैर्देवचक्रैरपि सचिवपति स्तूयमानस्तदानीं,
प्रारेभेऽसौ प्रवेश पुरि पुलकिवपु पौरदृश्यमान ॥ १२

अथ पृथुकमतुच्छैरतदु सन्नयत त्रिभुवनमपि शब्दैरब्दसवादकै ।
नवभङ्गितिविदग्धा मागधा भागधेय प्रगुणितगुणभाज तुष्टुवुर्मन्त्रिराजम् ॥ १३

जय जय नयशालिन्नासमुद्रान्तपृथ्वी वलयमिलितकीर्ते ! मन्त्रिचक्रैकशक्र ! ।
दलितकलिविलास ! प्रस्फुरत्तीर्थयात्रा कृतकृतयुगनव्यप्रस्तुते ! वस्तुपाल ! ॥ १४

बलिरपि कलिकाले याचकालीकराले, यदि भृशमभविष्यद् दानवो दानशौण्ड ।
इति भवदवलोकाद् विष्णुयत्न विनाऽपि, स्वयमयमगमिष्यद् देव ! पातालमूलम् ॥ १५

श्रीविश्रामास्पदमपि मदाद् दासयस्याशु दृष्ट,
स्पष्ट तुष्टो जनयसि जन श्रीविनिद्र दरिद्रम् ।
सामर्थ्यं ते स्वयमिति समालोक्य धाता न सौख्य,
नो दौस्थ्य वाऽलिप ! नृपु लिखति यथाभावनीया ॥ १६

सख्य सङ्गतगौरवै सह सदा कार्यो न कार्य पुन
नीचैरादगनादृश जल्पत पुत्री पुराऽपाठि यत् ।
तस्या त पठनस्य नि शठतया पाठ ददया दधे,
मुग्धा हाटकपट्टिकेव रालिपि श्रीवस्तुपाल ! त्वया ॥ १७

श्रीमन्त्रिमुख्य ! भवदीयविपक्षलक्ष्म दुष्कीर्तिभित्त्रिभुवन परित परीतम् ।
काहं स्फुरामि तव कीर्तिरितीव वस्तु, कर्णोपकण्ठमगमत् पलितच्छलेन ॥ १८

श्रीसोमान्वयवार्धिवर्धनविधो ! मन्त्रीश ! वागीश्वरी
लीलावन्य ! भवानकल्पि जगत साधारणो वेधसा ।
इत्थं दाननिदानवैभवमवद्धालम्बलस्थापितै
रेवैभिर्विभवाक्षरैर्विभवभाग् दु स्थोऽपि सौख्य दधौ ॥ १९

कोपे पावकतप्तमार्गगसम चक्षु क्षिपन्ती पुन,
प्रीतौ मौक्तिकदामसोदरमिव भूरेव मन्त्रीश्वर ! ।
उल्लासान्निधन धनं च ददती प्रत्यर्थिनामर्थिना
मन्येषा किमु चापवल्लिरतुला किं कल्पवल्लिस्तव ? ॥ २०

आदोलयन्ति कृतिनस्तव कर्णदोला लीलासु ये गिरमुदारमुदा रसाढ्याम् ।
भूकल्पवृक्ष ! तनुषे निजमौलिकम्पात्, तेभ्य फल दिवि यश कुसुमान्युदस्यन् ॥ २१

का शक्तिर्बुसदा सुधारुचिरसावेक क्षयी पीयते,
तै पक्षान्तरितोऽखिलैरपि समे निघ्नन्तु दैत्यास्तत ।
अक्षीणस्य सदा त्वदाननसुधाभानो पिबन् वाक्सुधा
मेक सद्म बलस्य वीरधवलो यावन्न सन्नह्यते ॥ २२

असौ ते सचिवावतस ! निबिडाहङ्कारकारस्करा-
वष्टम्भस्थिरपौरुषद्विपमहाकुम्भभ्रम भेजतु ।
कुम्भावभ्रमुभर्तुरुद्दुरहरिस्फूर्जत्करास्फालन-
त्रस्ताऽसौ परिहृत्य नित्यसुखिता विश्राम्यति श्रीरिह ॥ २३

बुद्धिर्लतेव तव विस्फुरिता समस्त शास्त्राम्बुभिरिह भृते हृदयालवाले ।
श्रीवस्तुपाल ! भुवि यत्प्रभवा प्रसून-मालेव मौलिषु न कैरघटि त्वदाज्ञा ? ॥ २४

श्रीसोमान्वयकुक्षिमोद्भूततुलापत्र पतदुर्बल श्रेयोयष्टिरनिष्टविष्टपविष सन्दोहलोहार्गला ।
श्रीविश्रामतरु पराक्रमकरिस्तम्भो रिपुक्षोणिभृद्-दम्भोलिस्तव भाति गूर्जरधरोद्धारैकधुर्यो भुज ॥ २५

अमी भृश सन्ततसञ्चरिष्णु-लक्ष्मीपदालक्तकरक्तकान्ति ।
भवत्कराम्भोरुहवद् विभाति, कृष्णारिनाराचिहुरालिपालि ॥ २६

असन्न सन्नद्धे यदिह विहरन्मार्गणगण स्मरस्मेरं मेरो कटकमटित कपनिटपी ।
इति व्यक्त युक्त सचिवकुलकोटीर ! करज-व्रजव्याजेनाथ मणिमुकुटबन्धस्तव करे ॥ २७

किल जगति भवद्गति विलोक्य, स्वगतियश क्षितिनीरव सुरेभा ।
सचिव ! तव भुजेऽपि भूमिभार, दधति पदात् पदमप्यमी न चेलु ॥ २८

क्रमक्रमऽभ्युदयस्मिन् सेवन्ता देव ! ग्रामे, तव सचिव ! नमन्त प्रीतिमन्त समन्तात् ।
नखदविजयवीर्यांधौतभालस्थदोस्त्या-दरततय इवामी भूतिभार भजन्ते ॥ २९

इति वर्ण्यमानगुणगौर्व्यो रवो-द्रुरवदिग्वृन्दवरभारतीभरैः ।
जिनदवत्तालयपुरस्सर शनै, प्रविवेश पत्तनमसौ महामनि ॥ ३०

अथ त निलोकयितुमाकुल कुल, मुदृशा गवाक्षपदवीषु कौतुकात् ।
अचरत् तदाद्यैकृतमुक्त जग क्रियमाणस्मैतति दर्शितादरम् ॥ ३१

विरचय्य काऽपि मणिकुण्डल श्रुतौ, द्रुतमेकमेव चलिता कुतूहलात् ।
जगदुन्नमाननरुदोऽययसमय-स्वयमागतद्युमणिमण्डला बभौ ॥ ३२

औत्सुक्यभावरतभूषणवैपरीत्या, कर्णावलम्बितमणिश्रितकङ्कणाभ्याम् ।
काचिच्चकार जितकुञ्जरकुम्भशोभे, पीनोन्नतस्तनतटे मुकुटावबन्धम् ॥ ३३

औत्सुक्यत काचन चित्रकार्थं, करे गृहीता मृगनाभिमेव ।
स्निग्धाञ्जनभ्रान्तिवशात् किलैती, नेत्रद्वये तत्र दधौ मृगव्यम् ॥ ३४

वैकल्यमाल्यमिलित शुशुभेऽपरस्या, पक्षान्तरप्रसृमर कबरीकलाप ।
सन्नायत कुसुमकार्मुकसन्निधान, पृथ्वीवरानिव निहन्तुमधादनङ्ग ॥ ३५

ताडङ्कमेक कर एव काचित्, तदा वहन्ती चपल चचाल ।
त्रैलोक्यजैत्रस्मरचक्रवर्ति पताकिनीवाग्रविलासिचक्रा ॥ ३६

आधात् पदे सपाद काचन काञ्चनस्य, हिञ्जीरमङ्कुरितकौतुकमेकमेव ।
सर्वापु स्वकीयविजयध्वजिनीषु विधे, दत्त तु वीरकटक मकरध्वजेन ॥ ३७

कृत्वैकमेव निजमञ्जनमञ्जु नेत्र-माबिभ्रती परमनञ्जनमेव काचित् ।
आभूषित नु सहज नु विशेषहृद्य, जालगता निज विचारयतीव लोकै ॥ ३८

काचित् तदा मन्त्रिवर निरीक्ष्य, कञ्चिद् विभाव हृदये वहन्ती ।
दष्टाधरा पाणिपुटैरुर स्थ, पिण्डीकृत पाटयति स्म हारम् ॥ ३९

काचिद् भुजाभ्या बहिरङ्गभावा च्छून्य यदाऽऽलिङ्गनमाततान ।
अन्तर्गते मन्त्रिवरेऽन्तरङ्ग-भावादशून्य हृदये तदाऽऽसीत ॥ ४०

इत्थ गौरगौरपौरमगीरक्तकटाक्षच्छटा-गुच्छच्छायमयूरपिच्छघटितच्छत्रच्छविच्छादित ।
मन्द मन्दममन्दवन्दिवचनैरानन्द्यमानो ययौ, धन्य सौधमसौ धरातलसुधाधाराधरो धीसखी ॥ ४१

मूर्तानीर्थपतेरथाऽऽश्रयपदेऽध्यारोप्य लोक पुन,
सम्मानोचितचातुरीपरिचित सर्वं विसर्ज्य क्षणात् ।
साक्षाद्दत्तमानपूरितकरप्रेय प्रमिद्धाङ्गना
रङ्गन्मङ्गलवर्धित स गमयामास स्मितो वासरम् ॥ ४२

किञ्च—

तात ! ख्यातगिरः सुता मम हता ही ! कालिदासादयो,
नन्वेकस्तु चिरायुरस्तु जगति श्रीवस्तुपालोऽधुना ॥
मार्कण्डः स्फुटमाशिषा शमवतामल्पायुरप्येष यत्,
कल्पायुर्जयतीति वाग्भिगदने धाताऽस्तु जातादरः ॥ १

श्रीवस्तुपाल ! भवदीययशोऽब्जजस्य, शश्वन्नभोऽङ्गणविहारमनोहरस्य !
सारङ्गसङ्गतकरस्तरवारिधारि-रक्षाभटश्रियमुरीकुरुते सितांशुः ॥ २

सिन्धुराजविजयोज्ज्वलं यशो, वस्तुपाल ! तव चन्द्रवद् दिवि ।
यत्र दुःखपटलीमलीमसं, सिन्धुराजमुखमेव लाञ्छनम् ॥ ३

यत् कवेर्लवणसिंहजन्मन, काव्यमेतदमृतोददीर्घिका ।
वस्तुपालनवकीर्तिकन्यया, धन्यया किमपि यत्र खेलितम् ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि-न्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यक्त चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये पुरप्रवेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



आसाद्य वीरधवलाधिपतिप्रदत्त-श्रीस्तम्भतीर्थनगरप्रभुतामथासौ ।
कीर्तीः क्षितौ तनुमतीरिव कीर्तनानि, कर्तुं समारभत मन्त्रिशिरोऽवतंसः ॥ १

पञ्चासराह्वमणहिल्लपुरीपुरन्ध्री-सीमन्तरत्नमिव पार्श्वजिनेशवेश्म ।
उद्धृत्य येन यशसा जनितो जरत्या, हस्तावलम्बनविधिर्वनराजकीर्तेः ॥ २

श्रीस्तम्भतीर्थनगरे रचयाञ्चकार, भीमेशवेश्मनि च काञ्चनकेतुकुम्भौ ।
मूर्त्तेव कीर्तिरनिशं यदवैजयन्ती, नर्नर्ति यत्र दिवि देवनदी जयन्ती ॥ ३

उत्तानपट्टमज(त)निष्ट पुरश्च भट्टा दित्यस्य मूर्धनि च काञ्चनशेखरं सः ।
तत्रैव दूरतरतापयश प्रताप-भास्करद्वितयसम्भवबीजभूते ॥ ४

भट्टार्कपूजनवने वटकाभिधाने, कूपं व्यधापयदसौ क्षितिनाभिरूपम् ।
दूर्वाङ्कुरप्रकरकर्बुरिताङ्गकुल्या-मार्गापदेशमिलितासितरोमराजिः ॥ ५

अग्रेऽपि तत्र बकुलाभिधचण्डभानो-रुच्चैः सुधामधुरमण्डपकैतवेन ।
स्पर्धीकृतोऽयममुना प्रभवप्रभावो, भूमौ चमत्कृतिकृते स्वयशःशशाङ्कः ॥ ६

श्रीमानखण्डपदमण्डपमत्र मन्त्री, श्रीवैद्यनाथशिवसद्म यदेष चक्रे ।
रोगक्षयाय इतिनां दधदोषधीशं, तत्रावतारमकृत स्वयमेव देवः ॥ ७

उच्चैः पदं निजयशोभरसोदरस्य, तन्वन् स्व तेन विदधे यदशौचभाया ।
तत्र स्थिता तदनुवासरमात्मभासा, विश्वेऽपि वस्तुषु हसत्युपरिप्रतिष्ठम् ॥ ८
अत्रैव साधुहृतयऽद्भुतपुण्यलक्ष्मीनन्दोपम वसतियुग्ममसौ चकार ।
यत्र प्रतिक्षणमहोत्सवहेतुभूता, भूमिश्रमं वहति वदनमालिकेव ॥ ९
आरोहवैभवभृत तरङ्गमिवासौ, कुम्भस्तनीमुभयपक्षगवाक्षनेत्राम् ।
तेन प्रपामपि रसप्रसरप्रसरया, वीक्ष्यैव वामयति मङ्क्षु न निर्वृतिं कः ? ॥ १०
तेन व्यधायि धवलक्कपत्तनश्री लीलावतंसमिवाऽऽदिजिनेन्दुचैत्यम् ।
मुक्त्वाऽपि चञ्चभजनाननपङ्कजानि, यत् पीयते जननिलोचनचञ्चरीकैः ॥ ११
अत्रापि तेन वसतिद्वितय मुनीना, हेतोरकारि सुकृतामृतपानपात्रम् ।
यस्माद् द्विधा प्रसमर शुचिकीर्तिपूरो, विश्वत्रिय श्रयति विस्फुटहारशोभाम् ॥ १२
या कीर्तिरस्य समभूदिह रागकालय भट्टारकालयमसुद्धरणन सिद्धे ।
तस्या भुजङ्गमजगद्गमनाय मार्गं, वापीमिपादयमिहैव कृती वितेने ॥ १३
सा काऽपि कोमलयशोऽङ्कुरवर्धनाय, धात्रीव तेन रचितेयमिह प्रपाऽपि ।
या पूरयेत तृषितेषु तदा च जातमन्येषु केषु न पय कलशस्तनोत्थम् ? ॥ १४
शत्रुञ्जयाद्रिमुकुटस्य पुरो जिनस्य, तेनेन्द्रमण्डपमिद तदकारि किञ्चित् ।
अप्येकवारमधिगम्य जना यदन्तर्जन्मान्तरेऽपि न भजन्ति कदाऽपि तापम् ॥ १५
अत्र व्यधापयदयं नवमुज्जयन्त श्रीस्तम्भनाधिपजिनाधिपचैत्ययुग्मम् ।
तत्केतुकैतवकरद्वितयेन कीर्ती, रम्येन्द्रमण्डपगिराभुवि नृत्यतीव ॥ १६
लक्ष्मीर्यथाऽवलगिता जगदेकभर्तुर्भक्त्या ततोऽत्र लप्स्यत इयमिमा च देवीम् ।
वाग्मूर्तिमत्र रचयन्निति स स्वमेक-माक्रमणीयमपि वाग्मिनमप्यशंसत् ॥ १७
मूर्तीर्विधाप्य निजपूर्वजपूरुषाणा, तेनात्र नित्यरुचिपद्मनिभैस्तदास्थे ।
गा प्राणिता रजनिमाल्यशीलपद्मन्दुरस्था किमेनमपि मुञ्चति साऽपि लक्ष्मी ? ॥ १८
मूर्तित्रय हरिकरिस्थमपूरि तेज-पालस्य वीरधवलस्य तथाऽऽत्मनोऽसौ ।
सन्नद्धसुद्धुरकलिप्रलयाय मूर्तमत्र युगत्रयमिवात्र पावनदेशे ॥ १९
चत्वार्यथ चतुरधीरवलोकना ऽम्बा प्रद्युम्न-शाम्बशिखराण्यवतार्य तत्र ।
तज्जमकीर्तिनिवहस्य चतुर्मुखत्वाद्, धातुः श्रिय निदधतोऽपि बभूव धाता ॥ २०
आलोक्य वीक्षितपुराननभूपभक्त्या चैत्यश्रिया जिनपतेस्त्तमतीवभक्तम् ।
अन्तर्थमल्लततया गिरमीव कल्पसौ, पाणी तदीयकृततोरणकैतवेन ॥ २१
श्रीसुव्रत भृगुपुरादयमत्र मन्त्री वीरं च सत्यपुरत पुरतोऽवतार्य ।
ताभ्या सदा विहितदीपमनोहराभ्या, लोकद्वयीमपि मुदा विशदाचकार ॥ २२

भामण्डलप्रतिनिभिर्विदधे जिनेन्दो-र्यत्तेन तत्र मणि-काञ्चनपृष्ठपट्टः ।
तत्कान्तिभिर्निदलितेषु तमस्सु चैत्ये, दीपा जयन्ति यदि पूजनमङ्गलाय ॥ २३
यच्छातकुम्भमयतोरणकुम्भजालं, तत्राधरीकृतरविच्छवि तेन तेने ।
तेनायमद्रिपतिरुग्रतरप्रभाव:, सम्भाव्यतेऽद्यप्रहरत्न्हदीपदीप्तः ॥ २४
यद्यम्बरे सुरगुरोरिव मे व्यापास्यद, वेधाः स्थितिं तदहमत्र मुहुर्निरीक्ष्य ।
अभ्रंलिहाद्रिपतिमूर्धनि कीर्तनौघ-मेतेन कारितमसङ्ख्यमवर्णयिष्यम् ॥ २५
श्रीपादलिप्तपुरसंनि सरः स चक्रे, यस्यान्तिकमधुरे लुठतीव तीरे ।
नित्यं नितान्तमधुरीभवितुं सुधाभुग्-भोग्यः सुधारुचिरपि प्रतिमामिषेण ॥ २६
एष स्फुरद्गुरुमुनिप्रसरामिहैव, स्वर्दण्डदर्शनपरां वसतिं वितेने ।
यस्यां यश सितरुचिर्विशदः स कोऽपि, जज्ञेऽस्य यत्र विधुरेव बभूव चिह्नम् ॥ २७
तत्र प्रपेयमपि तेन नवा वितेने, यां प्राप्य शीत-मधुरोज्ज्वलहारिवारिम् ।
पीयूषकुण्डहिमधामजमेव गर्व-सर्वस्वमन्यजगतोर्जगती बभञ्ज ॥ २८
माधुर्यधुर्यमतुलामृतकुण्डवृन्द-स्यन्दानुविद्धमिव यत्र जलं रराज ।
ग्रामेऽर्कपालितकनामनि तेन तेने, पातालमूलगतखातगुरुस्तडागः । २९
श्रीस्तम्भनाख्यपुरतीर्थपतिं निभाल्य, सद्गुणानलचिते न स उज्जयन्ते ।
द्वेधोत्थितैर्दिवि यशोभिरदादपूर्वं, द्वैराज्यदु.खममृतांशु-नभःश्रवन्त्योः ॥ ३०
स स्तम्भनाभिधपुरेऽद्भुतमुद्दधार, श्रीपार्श्ववेश्म किमपि स्मितवैभवं तत् ।
यत्रागतौ नवकृतप्रतिमाछलेन, कौतूहलाद् विमल-रैवतकादिदेवौ ॥ ३१
तेन प्रपाद्वयमिहाघटि पार्श्वपार्श्वे स्थित्यैव तादृशगुणप्रगुणं किलैतत् ।
छायामनोज्ञममृताभजलं बिभेद, तापं बहि स्थमबहि स्थमपि प्रजायाः ॥ ३२
श्रीवैद्यनाथसदनात् किल मालवेशो, दर्भावतीभुवि जहार सुवर्णकुम्भान् ।
श्रीकेलिवेश्म सचिवस्तु स वस्तुपाल-स्तस्मिन् दधौ दिनपतिप्रतिमचिपस्तान् ॥ ३३
चक्रेऽर्बुदाख्यगिरिमूर्ध्नि निजाग्रजन्म-श्रीमल्लदेवसुकृताय स मल्लिदेवम् ।
तद्देहदीधितिभिरञ्जनमञ्जुलाभि-र्लक्ष्मायितं भ्रममुष्य यशःशशाङ्के ॥ ३४
शक्तः क वक्तुमहमल्पमतिर्बहूनि, श्रीवस्तुपालसचिवेश्वरकीर्तनानि ।
यत्सङ्ख्यया दिवि विधिर्व्यथितोडुनिन्दून्, शीतांशुना खटिकयैव फलानि दातुम् ॥ ३५
इत्थमन्त्रिकिरीटकीर्तनपटारारब्धचमानैर्मुहु',
कीर्तीना निवहैरहम्प्रथमिकावष्टम्भसरम्भिभिः ।
तन्मानाधिकवर्धनव्यसनिभिर्मन्ये विभिन्नं नभ,
स्वर्दण्डच्छलकथ्यमाणविशदप्रस्फोटरेखास्पदम् ॥ ३६

किञ्च—

विश्राम्यन्तु भुजङ्गराजरजनीजानिप्रभाराजिनी-
जीवातुस्तनयित्नवो ! नयनयश्री या भवन्ताश्चिरम् ।
उत्तम्भे भुजया यशोभिरमलं दीप्रं प्रतापैर्द्विप-
दानैः सिक्तमिदं तनोतु भुवनं श्रीवस्तुपालः सदा ॥ १

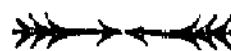
विश्वं न स्यादनीदृग् निखिलमपि कदाऽप्येष लोकप्रवादः,
कल्पे कल्पे ततस्त्वं मदयसि विदुषो लब्धपुण्यावतारः ।
कल्पद्रुः कामधेनुस्त्रिदशमणिरपि श्रीवसन्त ! श्रवन्ती-
भूयाम्भोधिं गतानामिति भवति भवद्दानवारां विवर्त्तः ॥ २

स्फूर्जत्फेनावलिवलयितोत्तालकल्लोलमाला-
लीलालोलज्जलधिवलयव्याजतो वस्तुपाल ! ।
क्रीडन्त्येता रणभुवि भवत्कीर्त्तयः स्तम्भतीर्थ-
प्रान्ते प्रीतिस्तवकितरसाः शङ्खदुष्कीर्त्तयश्च ॥ ३

विश्वेऽस्मिन्नरिसिंहकोविदकृतप्रौढप्रबन्धाद्भुत-
श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपालयशसी पीयूषपूरोपमे ।
एते हर्षवशादशेषविबुधैरास्वादनीये मिथः-
सङ्क्रान्त्या क्षणलब्धसिद्धिविभवे यावज्जगन्नन्दताम् ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यङ्क चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सकलकीर्त्तन-
कोर्त्तनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥



गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवकविविरचित–

कीर्त्तिकौमुदीमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।

अरिसिंहकविविरचित–

सुकृतसंकीर्त्तनमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।